ISSN – 2349-3100 Peer Reviewed

अष्टविंशोऽङ्कः FEB 2021 Refereed Journal

अन्ताराष्ट्रियमूल्यांकितत्रैमासिकसन्दर्भितशोधपत्रिका

वेदज्योतिष्मती

Vedajyotishmati

संरक्षकाः

प्रो. रामचन्द्रझाः,

प्रो. देवेन्द्रमिश्रः, प्रो. शिवाकान्तझाः

प्रधानसम्पादकः

प्रो. हंसधरझाः

सम्पादकः

डॉ. आशीषकुमारचौधरी

प्रकाशकः

संस्कृत-अनुसंधान-संस्थानम्, के. एम. टैंक लहेरियासरायः, दरभंगा

सम्पादकमण्डलम्

1 **प्रो.बोधकुमारझाः**
आचार्य, व्याकरण-विभाग,
क. जे. सोमैया-संस्कृतविद्यापीठ, मुम्बई ।

2 **प्रो. हंसधरझाः**
ज्योतिष विभाग ,आचार्य,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान , भोपाल परिसर, भोपाल।

3 **प्रो. प्रमोदवर्धनकौण्डिल्यायनः,**
विभागाध्यक्ष, मीमांसा दर्शन विभाग नेपाल,
नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय, काठमाण्डु, नेपाल ।

4 **जूही जेनोजे**
आचार्या,दर्शन विभाग,
कोरिया विश्वविद्यालय, सीओल, कोरिया ।

5 **आचार्या पुनिता शर्मा**
आचार्या ,संस्कृत विभाग,
वेंकेटेश्वर महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय।

6 **डॉ. धनञ्जयमणित्रिपाठी**
आचार्य ,संस्कृत विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली ।

7 **डॉ. दिलीपकुमारझाः**
विभागाध्यक्ष-धर्मशास्त्र विभाग
कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा ।

8 **डॉ. राजीवमिश्रः**
आचार्य ,संस्कृत विभाग,
मोदी विश्वविद्यालय, राजस्थान ।

9 **टेल्टो डेल्टेज**
आचार्य दर्शन एवं संस्कृति विभाग,
हेल्डमार्ग विश्वविद्यालय,हेल्डनवर्ग, जर्मनी।

10 **प्रो. विद्यानन्द झाः**
पूर्व.प्राचार्य,
भोपाल परिसर, भोपाल।

पुनर्वीक्षणमण्डलम्

1. **आचार्या पुनिता शर्मा**
   वेंकेटेश्वर महाविद्यालय
   दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली।
2. **आचार्य नीलाम्बर चौधरी**
   आचार्य रामभगत राजीवगाँधी महाविद्यालय दरभंगा।

सहसंपादक

1.**डा. अनिल कुमार,** रा. सं. सं भोपाल परिसर, भोपाल।
2. **डा. आस्तीक द्विवेदी**, रा. सं. सं भोपाल परिसर, भोपाल

प्रबंधक संपादक

1. **श्री पंकज ठाकुर**

प्रबंधक- सहसंपादक- डा.रविन्द्र प्रसाद उनियाल

परामर्शदातृसंपादकः

1. **डॉ. रंजय कुमार सिंह**
रा. सं. संस्थान, मुम्बई परिसर ।

सहसंपादिका

1.**डॉ गीता दूबे** ,रा. सं. संस्थान, मुम्बई।

संगणक सहयोग- रोहित पचौरी

वर्षम्-FEB 2021

@copy right – Sanskrit Anusandan Sansthan Email – rsas.kothram@gmail.com, vjvv.rs@gmail.com,
Ph No. 06272-224671, 09619269812, 07506137027 **मूल्य**-300/

पत्रिका में प्रकाशित लेखों से प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। विवाद का समाधान दरभंगा न्यायालय से ही स्वीकार्य है ।लेखों को परिवर्तित, स्वीकृत एवं अस्वीकृत करने का पूरा अधिकार प्रकाशक को होगा ।A Multilanguage Educational Sanskrit Research Journal Published by the Sanskrit Anusandhan Sansthan, Darbhanga

From letter no-671/2014-15 Place on Rashtriya Sanskrit Anusandhan Sansthan will kown as the Sanskrit Anusandhan Sansthan, Darbhanga

ISSN – 2349-3100

सम्पादकीयम्

भारतीयज्ञानविज्ञानयोर्निधिरस्माकं वेदपुराणस्मृत्यादयः। तस्य च ज्ञानविज्ञानस्य संरक्षणे संवर्धने सततं निर्वहन्ति भूमिकां पुराकालत एव प्रकाश्यमाना ग्रन्थ-पत्र-पत्रिकादयः। तस्मिन्नेव क्रमे महत्त्वपूर्णां भूमिकां निर्वन्ती दरीदृश्यते 'संस्कृत-अनुसन्धान-संस्थानम्' इति नामिका संस्था, यया बहुभ्योऽपि वर्षेभ्योऽनवरतं प्रकाश्यते अन्ताराष्ट्रीया सान्दर्भिकी त्रैमासिकी वेदज्योतिष्मतीति नामधेया शोधपत्रिका।

तत्र पत्रिकाया अस्या ऐषमो द्वात्रिंशोऽप्यङ्कः प्राकाश्यमेतीति सन्तोषास्पदम्। एष अङ्कोऽपि देशस्य विविधविदुषां ज्ञानविज्ञानमयैश्शोधलेखै राराज्यत इत्यपरं सन्तोषस्थानम्। आशासे विदुषां ज्ञानविज्ञानगुम्फितोऽयं द्वात्रिंशोऽप्यङ्कः संस्थाया यशसे स्यादेव।

अथात्र अष्टविंशोऽङ्कस्य प्रकाशने ज्ञानविज्ञानमयलेखप्रदानेन, सम्पादनकर्मणा, किंवा टङ्कणादिकर्मभिर्वा यैरुदारहृदयैः सहाय्यं विहितं तेषां समेषां कृते हार्दं साधुवादं वितीर्य कामये भगवन्तं भूतभावनं महाकालम् –

गुणैकपक्षपातिनां सहृदयानां विदुषां शुभाशंसनमपेक्षमाणः –

प्रधानसम्पादकः

(प्रो. हंसधरझाः)

ISSN – 2349-3100

विषयसूची पृष्ठसंख्या

सम्पादकीयम्
प्रो.हंसधरझाः 3

आचार्य यास्ककृत निरुक्त में पदचतुष्ट्य मीमांसा
डॉ० लेखरम दन्नाना 5

आचार्य क्षेमराज विरचित "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" के सूत्रों की दार्शनिक समीक्षा
डॉ० प्रदीप 11

प्रारम्भिक शिक्षा में नैतिक शिक्षा की भूमिका
निधि चमोली 16

AN INTELLECTUAL DESCRIPTION FATHERS OF SIYALI RAMAMRUT RANGNATHAN'S THEORY AND PRACTICE OF LIBRARY AND INFORMATION SYSTEMS
Dr. Rautmale Anand Shivram 19

ज्यौतिषशास्त्रस्य संहिताग्रन्थेषु उत्पातलक्षणानि तच्छान्त्युपायाश्च
डा. रमेश शर्मा 24

दर्शनशास्त्रे योगाङ्गानि – वेदान्तसन्दर्भे
भीमराजः 28

ISSN – 2349-3100

आचार्य यास्ककृत निरुक्त में पदचतुष्ट्य मीमांसा

✍डॉ० लेखरम दन्नाना

प्रस्तावना :- भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के मूल आधार वेद हैं। वेदों में समस्त परापर विद्याओं का मूल बीज सन्निहित हैं। ऐसी कोई भी ज्ञेय विद्या नहीं है, जिसका मूल वेद में समुपलब्ध न हो। ऋषियों के अन्तश्चक्षु के द्वारा अनुभूत आध्यात्मशास्त्र वेद है। अत: सत्य ही उक्त है- **ऋषय: मन्त्रदृष्टार: इति।** वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं। इस अपौरुषेय रूपी वैदिक साहित्य के कारण भारतीय साहित्य की उत्कृष्टता विश्व में प्रसिद्ध है।

वेद : शब्द निष्पत्ति एवं अर्थ :- विद् धातु से भाव, कर्म और करण अर्थ में घञ् प्रत्यय को योजित कर वेद शब्द की निष्पत्ति होती है। वेद शब्द की निष्पत्ति के मूल में चार धातुएँ हैं , जिनमें **विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम् , विद् विचारणे एवं विदलृ लाभे** का परिगणन किया जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है- **विदन्ति जानन्ति विद्यते भवन्ति विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्या: सत्यविद्यां येषु विद्वांस: ते वेदा:।**[1] वस्तुत: वेद शब्द का अर्थ ज्ञान अथवा ज्ञान का विषय और ज्ञान का साधन स्वीकृत किया जाता है। आचार्य सायण के मत में इष्टप्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के कारण स्वरूप जो अलौकिक उपाय बताता है, वह वेद है। धर्मादि पुरुषार्थों को प्राप्त कराने का साधन वेद है, यह आचार्य विष्णुमित्र का मन्तव्य है। आपस्तम्ब सूत्र की दृष्टि से मन्त्रों एवं ब्राह्मणों के समुदाय को वेद कहते हैं- **मन्त्रब्राह्मणयोर्नामधेयमिति।**[2]वेदों की संख्या चार है, जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को माना गया है। ऋग्वेद भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम संग्रह के रूप में प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित है। उक्त भी है – **तेषामृग् यथार्थवशेन पादव्यवस्था।** अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, उन मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं।[3] इसी क्रम **में "गीतिषु समाख्या"** अर्थात् जिन मन्त्रों में गायन होते हैं।[4]उन गीतिरूप ऋचाओं को साम नाम से आख्यायित करते हैं।

"शेषे यजुश्शब्द:"अर्थात् शेष मन्त्रों की यजुष् संज्ञा है।[5] वस्तुतस्तु **"गद्यात्मको यजु:"** अर्थात् यजुष् गद्यात्मक होते हैं। अथर्ववेद में शान्ति , पौष्टिक आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है। इन सभी वेदों को सम्यक् अनुशीलन एवं अध्ययन के निमित्त उपकारक शास्त्र वेदाङ्गों की निर्मिति हुई है। वेद ज्ञानराशि को अवगमन करने के लिए सरलोपाय है वेदाङ्गाध्ययन ।

वेदाङ्ग :- वेद पुरुष के सम्यक् अध्ययन निमित्त षडङ्गों को उपकारक शास्त्र के रूप में प्रतिपादन किया गया है। महर्षि पाणिनि ने षडङ्गों की कल्पना करते हुए कहा है कि साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन के बिना ब्रह्मलोकावाप्ति सम्भव नहीं है। पाणिनीय शिक्षा में वेदाङ्गों का निरूपण करते हुए कहा गया है –

"छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।ज्योतिषामयनं चक्षु: निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोकं महीयते"॥[6]

वेद के छ: अङ्गों में छन्द (पाद) , कल्प (हाथ) , ज्योतिष (नेत्र) , निरुक्त (कान) , शिक्षा (घ्राण) व्याकरण (मुख) है। इन अङ्गों के बिना वेद की पूर्णत: स्थिति का ज्ञान सम्भव नहीं है।

शिक्षा :- "वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा"। अर्थात् वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण की विधि जहाँ सम्यक् रूप से प्रतिपादित की जाए वह शिक्षा कहलाती है।[7] वेदों में स्वरों की प्रधानता है। उदात्त , अनुदात और स्वरित के उच्चारण मे दोष होने से मन्त्रों के अर्थ का अनर्थ हो जाता है। वेदों के स्वर और वर्णों के सम्यक् उच्चारण हेतु शिक्षा ग्रन्थों एवं शिक्षारूपी वेदांग का अध्ययन करना अति अवाश्यक है। प्रायश: प्रत्येक वेद का शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध है। यथा – यजुर्वेद– याज्ञवल्क्य शिक्षा , सामवेद – नारदीय शिक्षा , अथर्ववेद के लिए माण्डूक्य शिक्षा । इसके अतिरिक्त अनेक शिक्षाग्रन्थों का प्रणयन हुआ है।

कल्प :- "कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्रेति कल्पम्"। अर्थात् यज्ञ प्रयोग विधियों का निरूपण जिस शास्त्र में प्रतिपादित हो, वह कल्प कहलाता है।[8]वेदभाष्यकार आचार्य विष्णुमित्र के मतानुसार वेद विहित कर्मों का आनुपूर्व्येण कल्पना ही कल्प शास्त्र है। न्याय , विधि, नियम , कर्म, आदेश इत्यादि अर्थ कल्प में समाविष्ट हैं या यह सभी कल्प के पर्यायवाची हैं। वेद पुरुष का हस्तरूपी अङ्ग कल्प है। कल्पशास्त्र या कल्पसूत्र चार भागों में विभक्त है- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र ।

व्याकरण :- वेद रूपी पुरुष का मुखरूप अङ्ग व्याकरण है। **"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्"।** व्याकरण का प्रमुख उद्देश्य शब्दों की व्युत्पत्ति व उनके अर्थ का निर्धारण करना है। व्याकरण के द्वारा अनायास ही शब्दों की उत्पत्ति कर उनके अर्थों का अवबोधन किया जाता है। अत एव "**प्रधानं च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम् इति"** कहा गया है। अर्थात् वेद के छ: अंगों में व्याकरण प्रधान है।[9] सर्वप्रथम व्याकरण की दृष्टि प्रातिशाख्य के रूप में हुई है। इनमें स्वर, छन्द के साथ साथ मात्राओं का एवं व्याकरणिक नियमों का उल्लेख किया गया है।

सम्प्रति समुपलब्ध व्याकरण में सर्वप्रसिद्ध पाणिनीय व्याकरण है। जो उभयाविध अर्थात् लौकिक एवं वैदिक व्याकरण है। इसी व्याकरण को आधार बनाकर वार्तिकों की रचना की गई है। सूत्रों एवं वार्तिकों को आधार बनाकर महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण–महाभाष्य का प्रणयन किया है।

छन्द:- छन्द वेद का पादस्थानीय अंग है। महर्षि कात्यायन ने छन्दों को अक्षरपरिमाणबोधक के रूप में प्रतिपादित किया है। "**यदक्षरपरिमाणं तच्छन्द: स्यादिति"।**[10]वेदों में मुख्य रूप से सात छन्दों का उल्लेख मिलता है। जिनमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् , पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती आदि हैं। पिङ्गलाचार्य विरचित छन्दसूत्र में वैदिक छन्दों का पूर्ण विवेचन किया गया है। छन्द वेदों का महान् उपकारक अंग है।

ज्योतिष :- वेद पुरुष का नेत्र ज्योतिष शास्त्र को माना गया है। ज्योतिष कालविधान का शास्त्र है। विविध यज्ञों का सम्पादन में ऋतुओं , नक्षत्रों एवं तिथियों के साथ-साथ काल का भी निर्देश किया गया है, जिसका ज्ञान ज्योतिष शास्त्र में सम्यक् रूप से प्रतिपादित है। यथा – **"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृता: कालातिपूर्वं विहिताश्च यज्ञा:।**

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्"॥[11]वेदाङ्ग ज्योतिष के कर्ता लगधाचार्य हैं। सम्प्रति उपलब्ध ज्योतिष में कुल ४४ श्लोक हैं। इसके दो तरह के पाठ प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद ज्योतिष में ३६ श्लोक हैं। यजुर्वेद ज्योतिष मे ४४ श्लोक हैं। वेदाध्ययन हेतु ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इसके अध्ययन के बिना वेदों के काल निर्णय को सम्पादन नहीं किया जा सकता है।

निरुक्त :- वेद पुरुष का श्रौत्ररूपी अंग निरुक्त है। यह शब्दों की व्युत्पत्तिबोधक शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में निरुक्त की परिभाषा करते हुए लिखा है – "**अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं तन्निरुक्तम् इति।**[12]

निरुक्त ग्रन्थ के रचयिता आचार्य यास्क हैं। कठिनतम शब्दों का समावेश जिस ग्रन्थ में हो निघण्टु कहलाता है। निघण्टु ग्रन्थ का व्याख्यान ग्रन्थ ही निरुक्त है। वर्तमान समय में उपलब्ध निघण्टु ग्रन्थ तीन काण्डों एवं पञ्च अध्यायों में विभक्त है। निघण्टु के प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड के नाम से आख्यात है। निघण्टु का चतुर्थ अध्याय नैगम काण्ड अथवा ऐकपदिक काण्ड के नाम से जाना जाता है और इसका पञ्चम काण्ड दैवत काण्ड के नाम से प्रख्यात है। सम्प्रति निघण्टु का एक ही भाष्य निघण्टुनिर्वचनम् अभिधान से सम्प्राप्त होता है। जिसके रचयिता देवराजयज्वा हैं। देवराजयज्वा ने निघण्टु में पठित शब्दों का और पदों का निर्वचन पूर्वक भाष्य लिखा है।[13] आचार्य यास्क ने नैघण्टुक काण्ड के उन्हीं पदों का प्राय: व्याख्यान किया है, जिनके पर्यायवाची पदों को निघण्टु में सङ्कलित किया गया है। वेदाङ्गों में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक मन्त्रों के सम्यगवबोध एवं अभीष्टार्थनिर्धारण हेतु निरुक्त अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त है। जिसमें १. नैघण्टुककाण्ड २. नैगमकाण्ड अथवा ऐकपादिककाण्ड ३. दैवत काण्ड हैं। निघण्टु के क्रमश: नैघण्टुककाण्ड, नैगमकाण्ड और

दैवतकाण्ड में पठित वैदिक पदों की व्याख्या निरुक्त में की गई है। सामान्यत: निरुक्त बारह अध्यायों में विभक्त है तथा अन्तिम परिशिष्ट के दो अध्यायों को मिलाकर कुल चौदह अध्यायों का वर्णन प्राप्त है। इसके कर्ता आचार्य यास्क है। इनका जीवनवृत्त प्रायश: समुपलब्ध नहीं है। यास्क ने निरुक्त की भूमिका में निघण्टु की व्याख्या, पदचतुष्ट्य , शब्दनित्यत्व, षड्भावविकार, नाम, आख्यात , निरुक्त प्रयोजन और निर्वचन सिद्धान्त आदि नियमों का प्रतिपादन किया है। इन सभी विषयों में पदचतुष्ट्य मीमांसा एक प्रमुख विषय है। आचार्य यास्क निरुक्त को व्याकरण के पूरक के रूप में स्थापित करते हैं। यथा – **"तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्यम् इति"।** व्याकरण के जैसे वर्णागम, वर्णविकारादि विषय हैं , वैसे ही निरुक्त के वर्ण्य विषय भी समान हैं। इन वर्ण्य विषयों का विचार करते हुए कहा गया है- **"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।**

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधम् निरुक्तम् "॥[14]

शब्द और पद :- किसी भी भाषा का आधार शब्द होता है। परस्पर भावसम्प्रेषण का आधार या साधन शब्द ही है। इस शब्द का विचार व्याकरण एवं निरुक्त आदि शास्त्रों में किया गया है। शब्द् धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर "शब्द" शब्द निष्पन्न होता है। आचार्य मैत्रेय के अनुसार शब्द का अर्थ शब्द क्रिया है।[15] महाभाष्यकार पतञ्जलि ध्वनि को शब्दरूप में स्वीकृत करते हैं। यथा – **"शब्दं कुरु। शब्दं मा कार्षी" । ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते"।**[16] इत्यादि। यह ध्वनि दो प्रकार की होती है। जिसको अव्यक्त ध्वनि और व्यक्त ध्वनि के रूप में माना गया है। अव्यक्त ध्वनि वेणु शङ्कुकादि , नाद आदि हैं । व्यक्त ध्वनि में स्थान और करण से पुरुष के प्रत्यत्न द्वारा उच्चारित होने वाली ध्वनि है। यह ध्वनि वर्ण कहलाता है। एक वर्ण अथवा एक अक्षर अथवा अनेक वर्णों या अक्षरों के समुदाय को पद कहते हैं।[17]लोक में पद के लिए शब्द का प्रयोग होता है। पद गत्यर्थक पद् धातु से करणार्थ में घञ् प्रत्यय से पद शब्द निष्पन्न होता है। **"पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदम्"।** अर्थात् पद वह है जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। क्वचित् शब्द और पद समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं तो क्वचित् पृथक-२ अर्थ में। जैसे – महाभाष्यकार महाभाष्य में लिखते हैं- **"अथ शब्दानुशासनम् इति"।** यहाँ शब्द पद के पर्यायवाची के रूप में परिलक्षित होता है। आगे लिखते है **– केषां शब्दानाम्** इत्यादि, वहाँ पर भी पदसादृश्यता दृष्टिगोचर होती है। शब्द का पृथक अर्थ में प्रयोग भी दिखाई देता है। जैसे प्रातिपदिकार्थ में । सामन्यत: अवलोकन किया जाए तो यह शब्द प्रातिपदिक का पर्याय है। प्रातिपदिक बिना विभक्ति के होता है और पद विभक्ति युक्त एवं परिनिष्ठित होता है। शब्द और पद में भेद बहुत ही सूक्ष्म एवं प्रायिक होता है। बहुधा लाक्षणिक रूप से शब्द और पद दोनों एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यह शब्द अथवा पद दो प्रकार से विभक्त होता है ।[18] एकाक्षर पद या शब्द । अनेकाक्षर पद या शब्द । एकाक्षर पद यथा – अ,इ,उ इत्यादि। अनेकाक्षर पद यथा – गौ: , पुरुष:, अश्व इत्यादि ।

पदचतुष्ट्य :- पदों का विभाग प्रमुख रूप से दो दृष्टियों से किया जाता है- ऐतिहासिक दृष्टि एवं व्याकरणिक दृष्टि।[19] देश और काल को विशेष रूप से आधार बनाकर तद्भव, अपभ्रंश आदि वर्गों में पद विभाजन ऐतिहासिक पद विभाग कहलाता है। यास्क ने इस दृष्टि के आधार पर पदों के दो विभाग किए हैं- भाषिक तथा नैगम। भाषिक शब्द लोक में नैगम शब्द वेद में प्रयुक्त होते हैं। शब्दों का व्याकरण तो अनेक विषयों पर आधारित होता है। **१.प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर २.व्युत्पत्ति के आधार पर ३. प्रायोगिक आधार पर ।**

प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर :- किसी शब्द की प्रवृत्ति (लोक या वेद में) चलन का निमित्त क्या है, इस आधार पर शब्द का वर्गीकरण प्रवृत्तिनिमित्त की श्रेणी में आता है। शब्द की प्रवृत्ति जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा को प्रकट करने के लिए होती है। अत: शब्द चार प्रकार के होते हैं – जातिशब्द , गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा शब्द ।[20]

व्युत्पत्ति के आधार पर :- प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करके प्रकृति से शब्दों के बनने को आधार मानकर शब्द विभाग करना इस वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट है। यथा – प्रातिपदिकों से सुप् प्रत्यय लगाकर सुबन्त पदों का निर्माण।

धातुओं के साथ कृत् एवं तिङ् प्रत्यय लगाकर कृदन्त एवं तिङन्तों का निर्माण । नाम से तद्धित प्रत्यय को जोडकर तद्धितान्त पदों की रचना एवं पदों को आपस में समास होकर समस्त शब्द संरचना ।

प्रायोगिक आधार पर :- प्रयोग - बोलने में शब्द दो प्रकार प्रयुक्त हैं- दृष्टव्यय , अव्यय। दृष्टव्यय के अन्तर्गत सुबन्त एवं तिङन्त पदों का अन्तर्भाव होता है। अव्यय के अन्तर्गत निपात पदों का समावेश होता है। आचार्य यास्क उपर्युक्त सभी आधारों से सम्यक् रूप से अवगत हैं। परन्तु वे केवल प्रवृत्ति निमित्त एवं प्रायोगिक आधार पर अपना पद विभाग प्रस्थापित करते हैं। यास्क के मतानुसार शब्द के सामान्य भेद हैं – दृष्टव्यय और अव्यय । शब्द के विशेष भेद – नाम , आख्यात, उपसर्ग और निपात । यथा – **"तद्योन्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपवर्ग निपाताश्च तानीमानि भवन्ति इति"।**[20]

यास्काचार्य ने पदों को चार विभागों में विभक्त किया है- नाम, आख्यात , उपसर्ग एवं निपात । इन्द्र सम्प्रदाय के वैयाकरणों का मन्तव्य है कि – अर्थ का अभिधान करने वाला पद एक ही है। शैवसम्प्रदाय के वैयाकरणों ने पद को सुबन्त एवं तिङन्त भेद से दो प्रकार का माना है। **"सुप्तिङन्तं पदमिति"।** कतिपय आचार्य इसमें ही उपसर्ग और निपात को जोडकर पदों के तीन भेद मानते हैं । अन्य कुछ्छ आचार्य गति और कर्मप्रवचनीय को जोडकर पांच या छ: भेद मानते हैं। आचार्य यास्क तो चार पदों का ही अङ्गीकार करते हैं। सर्वप्रथम वे आख्यात पद की व्याख्या करते हैं। कारण यह है कि उनके मत में सभी नाम धातुज होते हैं तथा वाक्य में आख्यात ही प्रधान होता है। अत: वे नाम से पूर्व आख्यात की चर्चा करते हैं।

आख्यात :- "भावप्रधानमाख्यातम्"। अर्थात् जिसमें क्रिया के होने की प्रधानता होती है, वह आख्यात कहलाता है।[22] यथा – पचति – पकाता है, इसमें पाक क्रिया की प्रधानता है तथा पकाने क्रिया का बोध होता है। अत: यह आख्यात है। **"आख्यायते प्रधानभावेन क्रियागौणत्वेन च द्रव्यं यत्र तदाख्यातम्"।** अर्थात् जहाँ प्रधानरूप से क्रिया ख्यापित होती है और द्रव्य गौण रूप से स्थापित होता है, वह आख्यात कहलाता है। यथा –पचति, इसमें मुख्य रूप से पाक क्रिया का बोध होता है और गौण रूप से देवदत्त आदि का। क्योंकि पचति कहने पर पाक क्रिया का बोध तो निश्चित होता है, परन्तु द्रव्य अर्थात् पकाने वाले व्यक्ति का बोध नहीं होता है। आख्यात क्रियावाचक होता है , द्रव्यवाचक नहीं।क्योंकि वह लिङ्ग से विशिष्ट नहीं होता है। कहा भी गया है – **"क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते। त्रीनत्र पुरुषान् विद्यात् कालस्तु विशिष्यते"॥**[23]

भाव या क्रिया की दो अवस्थाएँ होती हैं – साध्यावस्था और सिद्धावस्था। साध्यावस्था में क्रिया चलती रहती है और सिद्धावस्था में क्रिया पूर्ण हो जाती है। साध्यावस्था में भाव (क्रिया) की प्रधानता होने के कारण वह आख्यात कहलाती है। साध्यावस्था में क्रिया तिङ् पदों से आख्यायित होती है। जैसे – पचति, गच्छति आदि । सिद्धावस्था में सत्त्व की प्रधानता होने के कारण वह नाम से जाना जाता है। यथा – पाक: , कृति: इत्यादि ।

नाम :- सत्त्वप्रधानानि नामानि । सत्त्व का अर्थ होता है द्रव्य । जिस पद में सत्त्व की प्रधानता होती है, वह नाम पद कहलाता है। नाम पद में क्रिया गौण होती है। यथा – देवदत्त: । देवदत्त कहने से देवदत्त का मुख्य रूप से बोध होता है और किसी ना किसी क्रिया का गौण रूप से बोध होता है। देवदत्त: कहने से देवदत्त के निश्चय हो जाता है, किन्तु क्रिया का निश्चय नहीं हो पाता है कि देवदत्त क्या कर रहा है। वह सो रहा है, खेल रहा है आदि। अत: स्पष्ट है कि नाम सत्त्व = द्रव्य प्रधान होता है। इसी प्रकार अन्य आचार्य के द्वारा नाम को व्याख्यायित किया गया है

"शब्देनोच्चरितेनेहं द्रव्यं प्रतीयते ।तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिण:॥

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तय:। तन्नाम कवय: प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयो:"॥[24]

उपसर्ग :- अचार्य यास्क ने जिस प्रकार नाम और आख्यात का लक्षण स्पष्ट रूप से दिया है उस प्रकार उपसर्ग का लक्षण नहीं बताया है। उपसर्ग का कार्य क्या है तथा वे किस प्रकार से अपना कार्य करते हैं, इत्यादि विषयों में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत प्रस्तुत किए हैं। आचार्य शाकटायन के अनुसार उपसर्ग नाम पदों और आख्यात पदों के साथ जुडकर उनके अर्थ को द्योतित करते हैं। उनका मानना है कि स्वतन्त्र रूप से उपसर्गों का कोई भी अर्थ नही होता है। निरुक्त में भी कहा गया है – **"न निर्बद्धा: उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायन:। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका: भवन्ति"।**[25]

शाकटायन के अनुसार दो बात स्पष्ट हैं – १.उपसर्गों का नाम और आख्यात पदों के साथ प्रयोग होता है, स्वतन्त्र नहीं। २. इन उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता है। इनके जुडने से नाम और आख्यात पदों के अर्थ में विशेषता आ जाती है। यथा – गमनम् – जाने के अर्थ को द्योतित करता है। जब उसमे आ उपसर्ग जुड जाता है तब वह आगमन को द्योतित करता हुआ आने अर्थ को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार अनु उपसर्ग जुडकर पीछे पीछे जाने अर्थ विशेष को प्रस्तुत करता है।

आचार्य गार्ग्य के अनुसार उपसर्गों के अपने अनेक अर्थ होते हैं। यद्यपि उपसर्ग नाम और आख्यात के साथ जुडकर ही अपने अर्थ को प्रकाशित करते हैं। इससे यह कहना उचित नहीं है कि उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता है। नाम और आख्यात का अपना विशिष्ट अर्थ होता है , किन्तु उपसर्ग उनसे जुडकर अर्थ विशेष में परिवर्तन लाता है। यही अर्थ का परिवर्तन होता है वह परिवर्तित अर्थ उस उपसर्ग का अपना स्वतन्त्र अर्थ है। कहा भी गया है – **"उच्चावचा: पदार्था: भवन्तीति गार्ग्य:। तद्य एषु पदार्थ: प्राहुरिमे तं नामाख्यातयोरर्थविकरणम् इति"।**[26] उपसर्गों के अर्थ का नाम पदों और आख्यात पदों के अर्थ से योग होता है, इससे नाम और आख्यात पद के अर्थ में विकार आ जाता है। आचार्य गार्ग्य के मत में यह स्पष्ट है कि उपसर्ग का अपना स्वतन्त्र अर्थ होता है। यथा – गमन – आगमन , अनुगमन इन शब्दों से जान सकते हैं – गमन का अर्थ है जाना, आगमन का अर्थ है – आना , अनुगमन का अर्थ है – पीछे पीछे जाना । यहाँ आ उपसर्ग का अर्थ सम्मुख या अभिमुख है तथा अनु उपसर्ग का अर्थ पीछे पीछे है। आचार्य गार्ग्य और शाकटायन में अन्तर यह है कि आचार्य शाकटायन उपसर्ग के स्वतन्त्रार्थ को नहीं स्वीकारते हैं और आचार्य गार्ग्य उपसर्ग के स्वतन्त्रार्थ स्वीकारते हैं।

निपात :- निपात शब्द नि उपसर्ग पूर्वक पत् धातु से घञ् प्रत्यय जुडकर निष्पन्न होता है। अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण निपात कहलाते हैं। ये शब्द भाव प्रधान न होने से आख्यात के अन्तर्गत नहीं आते, सत्त्व प्रधान न होने के कारण नामों में नहीं आते हैं, नाम या आख्यात पदों से जुडे बिना अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गों में शामिल नहीं किया जा सकता है। अत: इनकी अपनी एक पृथक श्रेणी है।

आचार्य यास्क की निपात की परिभाषा इस प्रकार है – **"उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति इति"** । अर्थात् जो अनेक अर्थों में गिरते हैं या निपतित होते हैं , वे निपात कहलाते हैं।[27] निपतन होने की क्रिया के करना निपात अन्वर्थक नाम है। यास्काचार्य ने प्रयोगों के आधार पर निपातों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है – **उपमार्थक निपात, अर्थोपसंग्रहार्थक निपात तथा पादपूरक निपात ।**[28]

१.उपमार्थक निपातों का प्रयोग किसी उपमान की उपमेय से उपमा देने के लिए होता है। वैदिक भाषा में उपमार्थक निपात चार हैं – इव, न,चित्तथा नु । लौकिक भाषा में "इव" ही इस उपमार्थ में प्रयुक्त होता है ।

२.अर्थोपसंग्रहार्थक वे निपात होते हैं जो किसी दुसरे अर्थ का संग्रह करते हैं । इन निपातों के आगम से उक्त अर्थ के अतिरिक्त भिन्न अर्थ का भि अवबोध होता है, किन्तु इस भिन्न अर्थ का अवबोध उद्दिष्ट अर्थ के समान नही होता।

इस उद्दिष्ट अर्थ में अर्थ का अवबोध विग्रह द्वारा होता है, जो इन निपातों द्वारा स्वयं ही संगृहीत हो जाता है । इस श्रेणी में आने वाले निपात- च, एव, वा इत्यादि हैं ।

३.पादपूरक वे निपात होते हैं जो वेद के मन्त्रों में पादों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं । ये निपात वाकया की पूर्ति के लिए , वाक्यालंकार के लियर ही प्रयुक्त होते हैं । गद्यबद्ध तथा छन्दोबद्ध दोनों ही प्रकार के ग्रंथों में ये वाक्यपूरण या पादपूरण निपात स्वयं अनर्थक ही होते हैं। पादपूरण निपात चार हैं –कम् ईम्, इत् और उ । यद्यपि अन्य निपातों का भी प्रयोग पादपूर्ति के लिए दिखाई पड़ता है, परन्तु वे निपात सार्थक ही प्रतीत होते हैं ।

उपसंहार: :- आचार्य यास्ककृत निरुक्त ग्रन्थ निर्वचन के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। निर्वचन, शब्द एवं अर्थ से संबंधित ज्ञान हेतु निरुक्त अनेक सिद्धांतों में से पदचतुष्टय सिद्धांत का अवगमन करना अत्यंत आवश्यक है । जब तक पदों के बारे में सम्यक ज्ञान नहीं होगा , तब तक वाक्य का ज्ञान भी संभव नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 **निरुक्तम् , भूमिका, पृष्ठ संख्या,** 1	15. **निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ संख्या,** 99
2 **निरुक्तम् , भूमिका**	16. **महाभाष्य पस्पशाह्निक् पृष्ठ संख्या,** 7
.3 **जैमिनीय सूत्र ,** 2.1.35	17. **निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ संख्या,** 99
4 **. जैमिनीय सूत्र ,** 2.1.36	18. **निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ संख्या,** 100
5 **जैमिनीय सूत्र ,** 2.1.36	19**. निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ संख्या,** 104
6 **. पाणिनीय शिक्षा में वर्णित**	20. **निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ संख्या,** 104-105
7. **ऋग्वेदभाष्यभूमिका में वर्णित**	21. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 3
8. **निरुक्तम् , भूमिका, पृष्ठ संख्या,** 30	22 **. निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 4
9 **. महाभाष्य पस्पशाह्निक् में वर्णित**	23. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 5
10. **निरुक्तम् , भूमिका, पृष्ठ संख्या,** 35	24. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 5
11 **. निरुक्तम् , भूमिका, पृष्ठ संख्या,** 36	25. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 15
12. **ऋग्वेदभाष्यभूमिका में वर्णित**	26. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 16
13. **निरुक्तम् , भूमिका, पृष्ठ संख्या,** 42	27. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ संख्या,** 19
14. **निरुक्तम् , भूमिका, पृष्ठ संख्या,** 36	28. **निरुक्तम् , प्रथम अध्याय , प्रथम पाद , पृष्ठ**

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१. निरुक्तम् , व्या. डॉ० जमुना पाठक , चौखम्बा सीरिज , वाराणसी, संस्करण , २०१०
२. निरुक्तमीमांसा, शिवनारायण शास्त्री , इंडोलॉजिकल बुक हाऊस , वाराणसी , संस्करण , २०२६ वि.सम्वत्
३. वैदिक साहित्य का इतिहास , श्रीगजानन शास्त्री मुसलगाँवकर , चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी , संस्करण, २०२६ वि.सम्वत्
४. वैदिकवाङ्मयस्येतिहास:, जगदीशचन्द्रमिश्र , चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन , वाराणसी , संस्करण , २०१२ ।

सहायक प्रोफेसर

संस्कृत विभाग साहित्य विद्यापीठ

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा (महाराष्ट्र)

आचार्य क्षेमराज विरचित "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" के सूत्रों की दार्शनिक समीक्षा

✍ डॉ० प्रदीप

भारतीय ज्ञानसंस्कृति को निगमागममूलक संस्कृति माना गया है। इसका परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष प्राप्ति का साधन ज्ञान को स्वीकार किया गया है। यह ज्ञान भारतीय ज्ञानपरम्परा के ज्ञानमणिकों में विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है। इस ज्ञानपरम्परा की दार्शनिक ज्ञानधारा में काश्मीर शैवदर्शन का स्थान महनीय माना गया है। इसका आधार आगम ग्रन्थ है। सभी आगम ग्रन्थ शिव के द्वारा प्रोक्त शास्त्र हैं। काश्मीर शैवदर्शन के मुख्य आगमग्रन्थों में शिवसूत्र, मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, स्वछन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र, स्वायम्भुवतन्त्र, रुद्रयालमतन्त्र , नि:श्वासतन्त्र , विज्ञानभैरव, आनन्दभैरव इत्यादि प्रमुख हैं। इसकी आचार्य परम्परा में श्रीकण्ठ नाथ से लेकर स्वामी लक्ष्मण जू जी महाराज पर्यन्त मर्मज्ञ एवं शैवसाधकों का नाम परिगणन किया जाता है। यह दर्शनशास्त्र काश्मीर शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन, त्रिकदर्शन , शिवाद्वयवाद एवं स्पन्ददर्शन इत्यादि अनेक नामों से जाता है। प्रस्तुत शोधपत्र प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञाहृदयम् को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। प्रस्तुत शोधपत्र में ***"आचार्य क्षेमराज विरचित "प्रत्यभिज्ञाहृदयम्" के सूत्रों की दार्शनिक समीक्षा"*** के संदर्भ में सारांशगत विवेचन किया गया है। यह शोधपत्र शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो , यह भाव केन्द्र में रखकर शोधपत्र लिखा गया है

काश्मीर शैवदर्शन को साधनापरक दर्शन माना गया है। इसमें साधना को आधार बनाकर आचार्यों के द्वारा अनेकानेक आध्यात्मिक, तान्त्रिक, आगमिक , साहित्यिक, नाट्यपरक ग्रन्थों की रचना की गई है। इसकी आचार्य परम्परा में महामहेश्वराचार्य राजानक क्षेमराज का योगदान महनीय है। काश्मीर शैवदर्शन के सामान्य स्वरूप को आत्मसात करने के लिए आचार्य क्षेमराज द्वारा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को केन्द्र में रखकर *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* ग्रन्थ का लेखन किया गया है। काश्मीर शैवदर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञादर्शन के सामान्य सिद्धान्तों को आत्मसात् करने के लिए *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इसके संदर्भ में श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी ने कहा है कि वेदान्तदर्शन में जो स्थान सदानन्द के *वेदान्तसार* का है, वही स्थान प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रत्यभिज्ञाहृदयम् का है। इसमें कुल बीस सूत्रों के द्वारा काश्मीर शैवदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन प्रतिपादित है।

प्रत्यभिज्ञा शब्द का शाब्दिक अर्थ है – पहचान करना। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* की भूमिका में इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है – **"प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाश: प्रत्यभिज्ञा"**। प्रतीप-प्रतीप अर्थात् ज्ञात होने पर मोहवश विस्मृत तत्त्व, अभि- अभिमुख रूप से स्फुटतया जो ज्ञान , ज्ञा- ज्ञान अर्थात् प्रकाश है , उसे प्रत्यभिज्ञा के नाम से जाना जाता है। इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से चिति शक्ति के विभिन्न स्वरूपों पर दार्शनिक दृष्टि से सरलीकृत रूप में प्रकाश डाला गया है। इसमें चिति की व्याख्या, चित्, चित्तम्, चिति, चैतन्य इत्यादि विविध स्वरूपों में उल्लिखित है।

आचार्य क्षेमराज विचरित *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* की तत्त्वबोधिनी टीक के प्रारम्भ में परम शिव के पञ्चविध कृत्य स्वरूपों का वर्णन करते हुए मंगलाचरण किया गया है –

"नम: शिवाय सततं पञ्चकृत्य विधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने"॥

काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि का मूल कारण परम शिव को माना गया है। परम शिव संसार की रचना के लिए स्वेच्छा से पञ्चकृत्यों का सम्पादन करता है। जिसमें सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय (निग्रह) एवं अमुग्रह का परिगणन किया जाता है। शिव आनन्दशक्ति , इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त होकर पञ्चकृत्यों का विधान करता है। इसके द्वारा ही विश्वसिद्धि होती है। जिसका मूल कारण *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* में चिति को माना गया है। यहाँ पर प्रथम सूत्र में

स्पष्ट रूप से कहा गया है कि – **"चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु:"।** अर्थात् स्वतन्त्र चिति सृष्टि, स्थिति और लय अथवा संसारगत भोग-मोक्ष स्वरूप सिद्धियों की हेतु है।यदि काश्मीर शैवदर्शन की सृष्टि प्रक्रिया को केन्द्र में रखें तो स्वत: स्पष्ट है कि – सदाशिव से लेकर भूमिपर्यन्त विश्व की सिद्धिरूप निष्पति स्थितिरूप और प्रकाशन तथा परप्रमाता में विश्रान्तिरूप संहार के लिए स्वतन्त्र, अनुत्तरविमर्शमयी, शिवभट्टारक से अभिन्न पराशक्तिरूप भगवती चिति ही मूल कारण है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में यह चिति अनुत्तरतत्त्व की अनुत्तराशक्ति, परमशिव की परा भट्टारिका तथा कौलिकि विसर्गशक्ति , अव्यक्त "ह" कला आदि अनेक नामों से जानी जाती है। यह शिव-शक्ति का यामलभाव अथवा अद्वैत रूप है। यह शिव के प्रकाशन का विमर्श भाव है।

यह संसार का मूल कारण होते हुए आनन्द से युक्त है। यह चिति स्वेच्छा से स्वयं की भित्ति अथवा स्वात्म स्वरूप भित्ति में ही विश्व का उन्मीलन कार्य करती है - **"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति "।** यहाँ पर शिव-शिक्ति के अद्वैत भाव अथवा यामलरूप को जानना अति आवश्यक है। शिव शक्ति के बिना नहीं रह सकता है और शक्ति शिव के बिना। यह दोनों तत्त्व अद्वैत स्वरूप से युक्त हैं। सम्पूर्ण विश्व शिव की क्रीडामात्र का प्रपञ्च है। यह विश्व अनेकानेक स्वरूपों में विभाजित होकर सांसारिक भागों में परिलक्षित होता है। जिसमें शिव के सप्तविधप्रमाताओं का भी वर्णन होता है। यह विश्व अनुरूप ग्राह्य और ग्राहक भेदों से अनेक प्रकार का होता है। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* में इसका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है- **"तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्"।**

काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टिप्रक्रिया के संदर्भ में छत्तीस तत्त्वों का वर्णन प्रतिपादित है। इसमें शिव-शक्ति को प्रमुख माना गया है। इसको स्पष्टीकरण करते हुए यहाँ सप्तविधप्रमाताओं का विवेचन है। जिनका वर्णन *तन्त्रसार, तन्त्रालोक , ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* एवं *परात्रिंशिकाविवरण* इत्यादि तन्त्रागमों में किय गया है। सप्तविध प्रमाता का सामान्य परिचय इस प्रकार है, जिसमें शिव आनन्द के लिए स्वयं को आभासित करता है। 1. सत्यप्रमाता - शिव 2. मन्त्रमहेश्वरप्रमाता – सदाशिव 3. मन्त्रेश्वरप्रमाता - ईश्वर 4. मन्त्रप्रमाता - शुद्धविद्या 5. विज्ञानाकल प्रमाता – माया से ऊपर 6. प्रलयाकल प्रमाता - प्रलयाकेवली 7. सकल प्रमाता -मायाप्रमाता / जीव ।

इस संदर्भ में जीव को विविध कारणों से संकुचित कहा गया है। इसी कारण से यह जीवात्मा सांसारिक शरीर धारण करता है।

यथा - **"चितिसङ्कोचात्मा चेतनोऽपि सङ्कुचितविश्वमय: "।** अर्थात् जिस प्रकार संसार भगवान का शरीर है , ठीक वैसे ही सङ्कुचित चिति शक्ति रूप जीवात्मा भी सङ्कुचित विश्वमय शरीर को धारण करता है। सभी सांसारिक कार्यों का सम्पादन करता है। यह सब शिव की महिमा है। वह सदाशिव आदि विभिन्न स्वरुपों में स्वयं को भासित करता है। जिसमें अनेक भुवन, मन्त्र , भाव एवं प्रमाताओं का वर्णन विस्तार से होता है। यह शिव ही भैरव रूप में स्वयं परिभाषित करता है। जब यह शिव विश्व का भरण रवण संहार एवं वमन – उल्लासन करता है तब यह शिवभैरव कहलाता है। यह शिव नर, शक्ति और शिव के रूप में त्रिशरो भैरव के नाम से जाना जाता है।यह सभी प्राणियों में नादबिन्दु स्वरूप कार्य करता है। इसके संदर्भ आचार्य अभिनवगुप्त *तन्त्रालोक* में लिखते है-

"विसर्ग एव शक्तोऽयं शिवबिन्दुतया पुन:।
गर्भीकृतानन्तविश्व: श्रयतेऽनुत्तरात्मताम्"॥

यही स्वयं को शाक्तविसर्ग शिवबिन्दु विसर्ग रूप में अवस्थित करके सम्पूर्ण विश्व को अपने गर्भ में रखकर अनुत्तर बन जाता है।इस प्रकार का कार्य करना इसका स्वभाव है। इससे यह स्वयं को आनन्दित करता है। अपने स्वभाव के कारण ही प्रामातृ स्वरूपों में सङ्कुचित होता है। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* में भी कहा गया है - **"चितिरेव चेतनपदावरुढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम् "।** अर्थात् चेतन पद से अवतरित तथा विषयों विषयों द्वारा सङ्कुचित चिति ही चित्त् है। यह कोई अन्य पदार्थ नहीं है अपितु भगवती चिति ही चित्त संज्ञा को प्राप्त होती है। जब यह स्वयं को छपाकर

सङ्कोच का अवलम्बन करती है, तब यह उल्लित एवं सङ्कुचित भावों प्रकाशमन एवं विमर्श प्रधान रूपों को ग्रहण कर लेती है।

यही चिति स्वातन्त्र्यात्मा ज्ञान,क्रिया एवं मायारूप होकर पशुप्राणिमात्रदशा में संकोच के कारण सत्त्व, रजस् और तमस् का स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्वयं को स्फुरित करती है। यह चित्त ही माया प्रमाता का स्वरूप है - **"तन्मयो मायाप्रमाता"।** संसार में आने के पश्चात् यह जीव माया के पाँच कञ्चुकों से आवृत होता है। जिसमें जीव को कला, विद्या, राग, काल और नियति के आवरण से युक्त होना पडता है। यह आवरण को जीव को बहुत प्रभावित करता है। जीव का स्वतन्त्र भाव बहुत सूक्ष्म एवं यत्किञ्चित् हो जाता है। इसका मूल कारण काश्मीर शैवदर्शन में त्रिविध मलों के नाम से प्रतिपादित है। जिनको आणव मल, मायीय मल एवं कार्म मल के नाम से जाना जाता है।

इसमें जीव का सर्वकर्तृत्व भाव यत्किञ्चित भाव में परिणत हो जाता है। इसी भावों के प्रपञ्च से युक्त होकर जीव एक आत्मा रूप , दो रूप वाला तथा तीन रूप वाला होते हुए त्रिमय एवं चतुरात्मक स्वरूप वाला अनुभव करता है। प्रत्यभिज्ञाकार ने स्पष्ट कहा है कि - **"स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चकस्वभाव:"।** अर्थात् वह जीव आत्मा एक , दो रूपों वाला , त्रिमय , चतुरात्मक और पैंतीसतत्त्वस्वरूप एवं प्रमातृसप्तक और शक्तिपञ्चक स्वभाव वाला है।

यहाँ पर प्रमातृसप्तक में सप्तविध प्रमाता एवं शक्तिपञ्चक में शिव की पञ्चशक्तियों का वर्णन विवेचित होता है। शिव के द्वारा सप्तविध प्रमातृभाव को ग्रहण किया जाता है। यह शिव अपनी पञ्चशक्तियों के द्वारा संसारिक कार्यों का सम्पादन करते हैं। इनमें भी चित् शक्ति सर्वाधिक प्रमुख है।

इनका परिगणन इस प्रकार है। 1. चित् शक्ति 2. आनन्द शक्ति 3.इच्छा शक्ति 4. क्रिया शक्ति 5. ज्ञान शक्ति । काश्मीर शैवदर्शन में शक्ति के बिना शिव का भाव अधुरा है अथवा है ही नहीं। इसके संदर्भ में *नेत्रतन्त्र* में भी कहा गया है –

"शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शाक्तयोऽस्य जगत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वर:"॥

इस प्रकार शक्ति ही शिव का प्रमुख अंश अथवा अद्वैतभाव यामलरूप है। यह शिव ही संसार का मुक्तिप्रदाता है। अन्य दर्शनों में आत्मा के संदर्भ में जो वर्णन मिलता है उसको प्रत्यभिज्ञाकार आचार्य क्षेमराज ने भूमिकामात्र कहा है - **"तद्भूमिका: सर्वदर्शनस्थितय:"।** अर्थात् सम्पूर्ण दर्शनों की स्थितियाँ ही उसकी भूमिकायें हैं।

यह दर्शन जगत् का विचारणीय प्रश्न है। जिसको प्रत्यभिज्ञादर्शन में भूमिकामात्र कहा है। यह संसार के आने के बाद् चित् के मलों से आवृत होकर संसारी बन जाता है। संसार के चक्र में उलझकर वह स्वयं की वास्तविक पहचान को भूल जाता है। यह वास्तविक ज्ञान की पहचान करवाना ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परम लक्ष्य है।

प्रत्यभिज्ञाकार ने भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया है- **"चिद्वत्तच्छक्तिसङ्कोचात् मलावृत: संसारी"।** अर्थात् चिद्विभु शक्ति संकोच के कारण मालों से आवृत होकर संसारी बन जाता है। यह शिव का स्वभाव है। वह अपनी स्वेच्छा से पञ्चकृत्यों को करने में आनन्द अनुभव करते है। यथा - **"तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति"।** अर्थात् यह संसारी दशा में भी आत्मा शिव के सदृश पञ्चकृत्य करता है।

इन पांच कृत्यों का आनन्द ग्रहण करते हुए शिव आनन्द को अनुभव कर रहा है। वह स्वयं को क्रियाशक्ति से युक्त करते हुए संसार की रचना करता है –

"सृष्टि संहार कर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतातिविनाशनम्"॥

इस प्रकार से शिव द्वारा सृष्टि की रचना की जाती है। इसके विस्तार में प्रत्यभिज्ञाकार पञ्चकृत्यविध स्वरूप का वर्णन सरलीकृत रूप में करते है। जिसमें आभासन , रक्ति , विमर्शन , बीजावस्थापन और विलापन भेद रूप पांच

प्रकार के माने गए हैं। यथा - **"आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनस्तानि"।** इन सभी पांच प्रकारों का सरलीकरण सृष्टिप्रक्रिया के ज्ञान में अति आवश्यक है। इनमें मूल में शिव का भाव है। वह स्वयं को आभाषित करने की इच्छा से यह सब कार्य करता है।

संसारी जीव के अज्ञान की दशा में उसका संसारीत्व भाव बहुत ही सूक्ष्म हो जाता है। वह स्वयं की शक्तियों का संसारीभावों में अज्ञान अवस्था में साक्षात्कार करता है। यथा - **"तद्परिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितितता संसारित्वम्"।** उसके अपरिज्ञान की दशा में अपनी शक्तियों द्वारा उत्पन्न किया गया व्यामोह ही संसारीत्व है। यह चित् शक्ति तन्त्रागमों में परावाक् के नाम से परिभाषित है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* में चिति का वर्णन करते हुए कहा गया है – **"चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता:"।** इस प्रकार यह संसारी जीवों में वाक् स्वरूपा बनकर वैखरी को स्वरूप ग्रहण करती है।

मुख्य रूप से यह परा, पश्यन्ती , मध्यमा और वैखरी को परिभाषित करती है। यह सभी प्राणियों में नादबिन्दु प्राण के रूप में शिव के यामलभाव रूप में मानी गई है। सृष्टिप्रक्रिया के छत्तीस तत्त्वों में यह चेतन पद पर आरुढ होकर चिति का रूप ग्रहण करती है। वस्तुत: यह शिवरूप से पूर्णत: अद्वैत है। परन्तु इसका स्वभाव इसको नटराज के नृत्य का आनन्द केन्द्र बना देता है। इसके संदर्भ में स्पष्ट कहा गया है - **"तद्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चिति:"।** उसके पूर्णतया ज्ञात होने पर चित्त ही अन्तरमुखी दशा में चेतन पद पर आरुढ होकर चिति का रूप ग्रहण करता है। यही जीवदशा में आवृत होने पर प्रमेय रूप इन्धन का दग्ध करती है । जैसे - **"चितिवह्निरवरोहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति"।** मायिक दशा में आवृत रहने पर भी चिदग्नि अंशत: प्रमेय रूपी इन्धन को दग्ध कर देती है।

यहाँ शिवतत्त्व के विमर्शन संहार रूप में जीव बल की प्राप्ति के अनन्तर संसार को स्वारूपाभिन्न बना लेता है। प्रत्यभिज्ञाकार लिखते हैं - **"बललाभे विश्वमात्मसात् करोति"।** साधना में यह जीव जब स्वयं को परम शिव अथवा चिति के साथ संयुक्त करता है तब वह चित् शक्ति से मिलकर स्वयं को मुक्त कर लेता है। यह उसकी अन्तिम अवस्था होती है। इसके लिए साधना के सभी सोपानों से जीव अथवा साधक को गुजरना पडता है। इसमें चिदानन्द का अनुभव प्रमुख है। यही मुक्ति का कारण बनता है। *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* में कहा भी गया है - **"चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्ति:"।** अर्थात् चिदानन्द की प्राप्ति के पश्चात् देहादिक के अनुभूत होने पर भी चित् शक्ति के साथ एकात्मता प्रतिपत्ति की दृढता जीवनमुक्ति है। इसके संदर्भ में तन्त्रागमों में विस्तार से वर्णन मिलता है।

तन्त्रालोक में इसको शिवयुक्त अथवा शिवमुक्त जीव कहा गया है।

"विसर्गप्रान्तदेशे तु परा कुण्डलिनीति च ।
शिवव्योमेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते"॥

यहाँ पर ही शिवव्योम वाला ब्रह्म का स्थान है। वह सृष्टि और संहार का विभ्रम उस नाथ का विसर्ग मात्र है। इस प्रकार से अपने अन्दर अपने द्वारा अपना क्षेप ही विसर्ग है। इसी संदर्भ में प्रत्यभिज्ञाकार ने मध्यविकास को वर्णन करते हुए कहा है - **"मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभ:"।** अर्थात् मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है। इसी प्रकार से चिति के संकोचभाव एवं विकासभाव सहित अन्त कोटि का वर्णन किया गया है। प्रत्यभिज्ञाकार ने यहाँ लिखा है - **"विकल्पक्षय-शक्तिसङ्कोचविकास-वाहच्छेदाद्यन्तकोटिनिभालनादय इहापाया:"**। अर्थात् विकल्पक्षय , शक्तिसङ्कोच और विकास , वाहच्छेद इत्यादि और अन्त कोटि परिशीलन आदि का विषय उपाय है। इसमें भी समाधि अवस्था के समय शिवानुभूति के अथवा प्राणोच्चारण के सोपानों मे जीव स्वयं को अभुनवित अथवा लाभान्वित करता है। जिसमें निरानन्द , परानन्द, ब्रह्मानन्द , महानन्द , चिदानन्द और अन्त में जगदानन्द का अनुभव मिलता है। शिव की सर्वमयता ही जगदानन्द है। वही जगदानन्द स्वरूप है।

अन्तिम अवस्था में जीव का शिव के साथ ऐक्यभाव में स्थापित होना फलित होता है। जिसमें जीव में सभी सांसारिक भाव स्वत: समाप्त हो जाते हैं। वह केवल शिवोऽहं शिवोऽहं के आभास का अनुभव करता है।

प्रत्यभिज्ञाकार ने भी स्पष्ट रूप से सूत्र में वर्णन किया है **- "समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदितसमाधिलाभ:"।** अर्थात् समाधि के संस्कार से सम्पन्न व्युत्थान दशा में बारम्बार चित् के साथ ऐक्य का परिशीलन करने से नित्य उदित एकरस समाधि का लाभ होता है।

अन्त में सामधि लाभ द्वारा साधक स्वयं को शिवरूप में अनुभव करता है। तब प्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यात्मक पून अहन्ता के साथ अभेद होने से सदा सब प्रकार की सृष्टि और लय करने वाली अपनी संवित् शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। अन्तिम सूत्र में कहा गया है – **"तदा प्रकाशानन्दसार-महामन्त्रवीर्यात्मक-पूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि-निजसंविद्देवताचक्रेश्वरता-प्राप्तिर्भवतिति शिवम् ॥**

इस प्रकार *प्रत्यभिज्ञाहिदयम्* के सूत्रों की सरलतम अल्पप्रज्ञा द्वारा समीक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सभी बिन्दुओं को विस्तार से स्पष्ट करने के लिए सभी काश्मीर शैवागमों का सहयोग अपेक्षित है।

उपसंहार (conclusion) :- अन्त में निष्कर्ष रूप में स्वत: स्पष्ट होता है कि *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* में वर्णित सूत्रों की समीक्षा काश्मीर शैवदर्शन के सामान्य सिद्धान्तों से अवगत होने में सहायक है। सभी सूत्र चिति शक्ति के इतस्तत: भ्रमण करते है। शिव और शक्ति के यामलभाव अथवा संघट्ट रूप को समझने में सभी सूत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। काश्मीर शैवदर्शन के प्रारम्भिक अध्येताओं , विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों को यह ग्रन्थ अवश्य अध्ययन करना चाहिए। शिव की अनुत्तरा शक्ति चिति द्वारा सम्पूर्ण जगत् निर्मित है। शिव के नृत्य का पञ्चकृयों में परिभाषित होना सौन्दर्य का सरलतम साक्षात्कार है। इसलिए काश्मीर शैवाचार्य क्षेमराज द्वारा विरचित *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* एक महनीय कृति के रूप में प्रसिद्ध है।

पादटिप्पणी-

1.. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ,* सूत्र संख्या, 4

2 *प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ,* सूत्र संख्या, 18

संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* : क्षेमराज , सिंह, जयदेव, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली- १९६३

2. श्रीतन्त्रालोकम् : अभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित , प्रथमो भाग , व्या. प्रो० राधेश्याम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश

3. *शिवसूत्रम् :* टीकाचतुष्टयोपेतम् , पाठक , शुद्धानन्द , अभिषेक प्रकाशन , नवदेहली, संस्करण , २००७

4. *तन्त्रसारम्* : अभिनवगुप्त, राजानक ,जयरथ (व्या.) शास्त्री, मधुसूदन कौल , श्रीनगर, काश्मीर सीरिज आफ टेक्स्ट्स एण्ड स्टडीज -१९१८

5. *प्रत्यभिज्ञाहृदयम् :* राजानकक्षेमराज , व्या. सम्पा. शास्त्री , अवस्थी , शिवशङ्कर , चौखम्बा प्रकाशन , वाराणसी , उत्तरप्रदेश , संस्करण , २०६४

6. *काश्मीरीय शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र* : द्विवेदी , श्यामकान्त , चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन , वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००९

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, साहित्य विद्यापीठ

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

 ISSN – 2349-3100

''प्रारंभिक शिक्षा में नैतिक–शिक्षा की भूमिका''

✍निधि चमोली

आज अच्छी शिक्षा बच्चों के लिए उतनी आवश्यक हैं जितना कि अच्छा भोजन क्योंकि जिस प्रकार बिना भोजन के शारीरिक विकास संभव नहीं हैं। उसी प्रकार बिना शिक्षा के मानसिक विकास भी असंभव हैं। लेकिन यह अच्छी शिक्षा है क्या? क्योंकि शिक्षा किसी भी प्रकार की हो, अच्छी ही होती हैं, कोई भी शिक्षा बुरी नहीं होती।

हमारा शरीर मन, आत्मा, मस्तिष्क से मिलकर बना हैं, अतः हमारा संपूर्ण शरीर ही एक प्रकार का ब्रह्मंड हैं। जिसमें हमें मानसिक शांति अच्छा स्वास्थ्य, भावनात्मक संतुलन अच्छाई, सच्चाई और सुख, कुल मिलाकर एक संपूर्ण जीवन यात्रा जो कि आरामदायक होनी चाहिए। किंतु यह सब कैसे प्राप्त होगा? उत्तर हैं– शिक्षा! किस प्रकार की शिक्षा नैतिक शिक्षा! अतः एक अच्छी शिक्षा से तात्पर्य नैतिक शिक्षा से ही हैं।

नैतिक शिक्षा क्या है?

नैतिक शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से हैं, जिसके अंतर्गत हम किसी समाज की प्रगति, उन्नति, अवनति आदि निर्धारित करते हैं। और इन्हीं मूल्यों से व्यक्ति की क्रियाऐं निश्चित की जाती हैं। इन मूल्यों से प्रत्येक वर्ग प्रभावित हैं और सर्वाधिक प्रभाव इसका बच्चों पर पड़ता हैं। चूँकि बच्चों के मन में एक बार जो बात छप जाती है वह हमेशा बनी रहती हैं।

बच्चों का कोमल, निर्मल मन जिस प्रकार के व्यवहार करना सीख जाता है, वह उसका जीवन पर्यन्त अनुसरण करता है। नैतिक शिक्षा के माध्यम से ही हम अच्छे और बुरे में भेद कर पाते हैं। नैतिक शिक्षा हमें अपने व्यवहार को संतुलित करने और अन्य व्यक्तियों के साथ सामंजस्य बनाए रखने में सहयोग प्रदान करती हैं।

वैदिक और संस्कृत साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट होता है। कि प्राचीन आचार्यों द्वारा गुरूकुलों अथवा आश्रमों में अध्ययन गृहण करने हेतु शिक्षा व्यवस्था के अन्तगर्त नैतिक शिक्षा को सर्वाधिक महत्ता दिया जाता रहा है। शास्त्रों के निम्न श्लोक इसके प्रमाण हैं–

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महानरिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृतवा यं नावसीदति।।

न चौरहार्य न च राजहार्य न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी।
व्यये कृते वर्धति एव नित्यं विद्याधनं एव धन प्रदानम्।।

वस्तुतः प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में शिक्षागृहण करने का अधिकारी ही वही माना जाता था जो नैतिक शिक्षा का अध्ययन कर उसका यथावत् पालन करता था। इसलिये यह प्राथमिकी शिक्षा भी कही जाती थी। जिससे छात्र में मानवीय मूल्यों और गुणों का विकास होता है। इससे ही छात्र द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा को संरक्षण और संवर्धन करने की क्षमता प्राप्त होती थी। और तत्कालीन विभिन्न गुप्त और रहस्यात्मक विद्याओं महाविद्याओं शिक्षाओं और कौशलों का लोककल्याण हेतु सदुपयोग करता था। नैतिक शिक्षा क्या है इसे कुछ निम्नलिखित श्लोकों से और भी स्पष्ट समझा जा सकता है जिनसे नैतिक शिक्षा का महत्व और आवश्यकता वर्तमान में और भी अधिक स्पष्ट होता है –

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

ते मर्त्य लोके भुविभारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनात् धर्मं ततः सुखम्।।

नैतिक शिक्षा की आवश्यकता क्यों है ?

वर्तमान में समाज की अनेक समस्याऐं हैं जिनमें–बाल अपराध गंभीर रूप से बढ़ता जा रहा हैं। बाल–अपराध के आँकड़े चिंताजनक हैं। वर्तमान में एम0आर0डी0सी की रिपोर्ट के अनुसार लाखों बाल अपराधी सुधार गृहों में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बाल अपराध आश्चर्यजनक रूप से बढ़ता जा रहा हैं। बाल अपराध का प्रमुख कारण शिक्षा का अभाव हो सकता हैं। और शिक्षा भी किस प्रकार की जो बच्चों को मानवता सिखाऐं अर्थात्–नैतिक शिक्षा! क्यांकि जैसी शिक्षा होगी वैसे ही समाज का भी निर्माण होगा।

नैतिक शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की जाए?

किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का पहला स्थान है–परिवार। बाल्याकाल से ही बच्चे की शिक्षा परिवार में प्रारंभ हो जाती हैं–कहा भी गया है कि बालक का पहला विद्यालय उसका घर (परिवार) हैं। और दूसरा महत्वपूर्ण स्थान हैं–विद्यालय।

प्रत्येक विद्यालय का प्रारंभ प्रार्थना सभा से होता हैं, जिसमे भगवान, धर्म, वंदना, देशभक्ति, व्यायाम आदि सम्मिलित होता हैं। किंतु क्या केवल इन सभी से बच्चों को पर्याप्त मूल्य प्राप्त हो सकते हैं?

जहां वर्तमान समय में चल रहे अनेकों विद्यालयों में नैतिक शिक्षा पाठ्यक्रम का विषय नहीं हैं वही ऐसे भी विद्यालय उपस्थित हैं जिनमें नैतिक शिक्षा एक अनिवार्य विषय के रूप में हैं, इसका एक बड़ा उदाहरण आर0एस0एस (राष्ट्रीय स्वंय संघ) के अंतर्गत खोले गयें विद्यालय, जैसे–सरस्वती शिशु मंदिर, सरस्वती विद्या मंदिर, शिशु सदन आदि हैं। इसके हमारे पूरे देश में कुल लगभग 17,396 विद्यालय हैं।

इसकी चर्चा इसलिए करनी आवश्यक थी कि ऐसे विद्यालयों में प्रवेश करते ही नैतिक– शिक्षा से परिपूर्ण बच्चों को व्यवहार में ही इसकी खुशबू आने लगती हैं। इन विद्यालयों का वातावरण नैतिक शिक्षा के साथ ही महकता है।

अतः प्रत्येक बच्चे के लिये नैतिक शिक्षा अनिवार्य विषय होना चाहिए।

नैतिक–शिक्षा की परीक्षा

किसी भी विषय को पढ़ाये जाने के पश्चात् बालक के अर्जित ज्ञान को जानने के लिए परीक्षा लेना आवश्यक हैं। इसी प्रकार नैतिक शिक्षा को विषय बनाकर रखने पर उसकी भी परीक्षा ली जानी आवश्यक है।

परीक्षा की अनेक पद्धतियाँ है– जैसे लिखित परीक्षा, मौखिक परीक्षा, अवलोकन, साक्षात्कार आदि। अब इसमें से नैतिक शिक्षा की परीक्षा किस रूप में ली जा सकती है?

नैतिक शिक्षा की परीक्षा व्यवहारात्मक रूप में ली जानी चाहिए, चूँकि नैतिक शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव बालक के व्यवहार पर ही झलकेगा। नैतिक शिक्षा की परीक्षा किसी निश्चित समय में न लेकर उसके संपूर्ण विद्यालय कार्यकाल के दौरान लेनी चाहिए क्योंकि यह परीक्षा व्यवहारात्मक हैं, तो किसी निश्चित समय में किसी के व्यवहार को नहीं जाना जा सकता, चूँकि मनुष्य अनेक भावों से भरा होता है, जैसे– प्रेम, दुख, सुख, गुस्सा, चिड़चिड़ाहट, शांत आदि। अलग–अलग मूड़ में रहना मनुष्य का स्वाभाविक रूप हैं। अतः किसी निश्चित समय में किसी व्यक्ति के व्यवहार को जानना कठिन हैं। अतः बालक की नैतिक शिक्षा की परीक्षा व्यवहारत्मक और अनिश्चित होनी चाहिए।

 ISSN – 2349-3100

नैतिक शिक्षा व्यवहार का विषय :

नैतिक शिक्षा के अंतर्गत हम सत्य, बोलना, दया करना, क्षमा करना, झूठ न बोलना, चोरी न करना, ईमानदारी से रहना आदि अनेक व्यवहार अपने जीवन में उतारते हैं।

नैतिक शिक्षा का तात्पर्य यह नहीं कि बस्ते का बोझ और बढ़ा दिया जाए क्योंकि इससे बच्चों को भी यह मात्र एक और विषय लगेगा। और इससे मात्र एक विषय बनाने से बच्चों का व्यवहार भी परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

यदि नैतिक शिक्षा को वाकई बच्चों तक पहुँचाना हैं तो इसका सबसे बेहतर तरीका हैं–खेल विधि द्वारा अथवा मनोरंजक बनाकर, जिससे बच्चे इसे मात्र एक विषय मानकर नीरस न हो।

नैतिक शिक्षा को अच्छे व्यवहार की एक स्वास्थ्य प्रतिस्पर्धा के रूप में बच्चों तक पहुँचाया जा सकता हैं। और प्रारंभिक स्तर से ही इसे प्रारंभ कर बच्चों को एक स्वास्थ्य शरीर के साथ स्वास्थ्य मस्तिष्क का निर्माण किया जा सकता हैं।

नैतिक शिक्षा का नवीन दृष्टिकोण (निष्कर्ष)

वास्तव में नैतिक–शिक्षा क्या हैं–नैतिक शिक्षा की आवश्यकता कई वर्षों से है–लेकिन क्यों इसे अब तक पूर्णतः लागू नहीं किया जा सका हैं? नैतिक–शिक्षा की तो बाजार में अनेकों पुस्तकें हैं, तो क्यों नैतिक शिक्षा को विद्यालयों में लागू करना इतना मुश्किल हो रहा है?

क्योंकि नैतिक शिक्षा को मात्र एक पुस्तक में नहीं एकत्रित किया जा सकता है, यदि इसे मात्र एक पुस्तक बनाकर प्रस्तुत किया जा सकता तो यह कई वर्षों पहले ही लागू हो जाती। नैतिक–शिक्षा को लागू करने के लिए प्रत्येक शिक्षक को स्वंय में नैतिक शिक्षा को लाना होगा, समाज के प्रत्येक व्यक्ति को नैतिक शिक्षा से परिपूर्ण होना होगा। क्योंकि नैतिक शिक्षा किसी को प्रदान नहीं की जा सकती अपितु इसे स्वंय ही देखकर, सीखकर अर्जित करना होता है।

वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक शिक्षक को स्वंय नैतिक मूल्य रखना होगा, तो बालक, शिक्षक के व्यवहार से स्वंय ही शिक्षा ग्रहण कर लेगा। विद्यालय का वातावरण, विद्यालय का परिवेश ही कुछ इस प्रकार रखना होगा कि बालक विद्यालय में प्रवेश करते ही स्वंय नैतिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। यदि बालक विद्यालय में शिक्षकजनों को आदर–सम्मान देना सीखता है, तो वह समाज में जाकर स्वंय ही अपने से बड़ों का आदर–सम्मान करेगा। यह मात्र एक उदाहरण हैं, इसी प्रकार वास्तव में नैतिक–शिक्षा किसी प्रकार का विषय नहीं है, जो बालकों को सीखाने की आवश्यकता हैं, यहां तो हमें (प्रत्येक व्यक्ति) स्वंय के व्यवहार में नैतिक–शिक्षा को लाने की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

- पाण्डेय, डॉ0 आर0, मिश्र, डॉ0 के0 (2009), मानव अधिकार और मूल्य, श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।”
- सिंह, डॉ0 एस0 पी0 (2010), राष्ट्रीय मूल्य एंव मानवाधिकार शिक्षा, ए0 पी0 एच0 पब्लिशिंग कॉपरेशन, नई दिल्ली ।
- बैस, डॉ0 एच0 एस0 (2016), शिक्षा की रुपरेखा, ए0 पी0 एच0 पब्लिशिंग कॉपरेशन, नई दिल्ली ।

शोधार्थी, हिमगिरी जी वि०वि०
देहरादून,(उत्तराखण्ड)

 ISSN – 2349-3100

AN INTELLECTUAL DESCRIPTION FATHERS OF SIYALI RAMAMRUT RANGNATHAN'S THEORY AND PRACTICE OF LIBRARY AND INFORMATION SYSTEMS

✍Dr. Rautmale Anand Shivram,

Introduction

The theory and practice of Library classification would be necessary at every step in computer-based library and information system. In order to make the best use of computer facet analysis has been found to be extremely useful in determining the meaningful information to all users. In this article an intellectual description father of prof.siyali Ramamurthy rangnathan's theory and practice of library and information systems.

The mind can't weave its pattern of information that the senses through the nervous system have communicated to it, unless that information is communicated in some from that the brain can manipulate. One many question whether every process of thinking involves language, but to conceive of thought without some form of symbolization is difficult and thus the discussion here can at least be limited to symbolized thinking formalized in language. But in every man, & possible in the highest apes, whether a symbol has the function of meaning does not depended merely on the symbol and the facet in question but also on the use of certain rules called the rules of language. Language then becomes a structured body of knowledge symbolised in ways that permit its manipulation by the human nervous system.

1.1 Structure of Language

The system of rules that is structure of language is not closed class; man frequently invents new rules for special purposes and for which new symbols are needed. The signs and lights employed for the regulation of motor traffic form a 'language' different from ordinary language in its symbols and rules. Language is therefore not only being constantly enlarged or reshaped to meet the requirements of life, but new languages are being invented for special purpose for which existing language are inefficient or inappropriate.

Language then is more than a symbolized structuring of knowledge or information: language and knowledge are inseparable. If knowledge were not expressible through language so that the

 ISSN – 2349-3100

human brain could receive it, interpret it, and otherwise manipulate it, the achievement of knowledge would be impossible for man.

1.2. Influence of Language symbol

Language as symbol epitomizes knowledge it is the instrument by which the brain is able to comprehended knowledge, largely determines conduct and behaviour. Even among primitive races the power of symbols to influence and control action is very great, and as the accumulated body of human experience (knowledge) grows , the role of its structuring becomes increasingly important, making possible both the assimilation of increasingly intricate bodies of knowledge and more complex forms of social or important, making possible organisation. Because of the ability of man to use symbols action, language, or more precisely words, have been endowed with certain supernatural powers, thus incantations' and other magical formulas have been employed in an attempt to influence future events; and man resorted to mysterical jargon to exert his will not only upon other individuals but also upon natural forces, physical phenomena and inanimate object. The internal structure of knowledge is the system of connections that are patterned in the process of thinking but the psychological operations involved in thinking are fluctuating processes which under certain condition skip entire groups of operation. They do not always keep to the ways prescribed by logic and man in his search for the interconnectedness of cannot bind himself to formalism because the brain itself will not bound to the narrow steps and prescribed sources of so-called logical reasoning. Logic itself is a man-made system of connectives and relationship that have evolved from human experience with observed phenomena. And it may be said to inhere in nature only because man chose to put it there.

The structuring of knowledge that is so essential to the operations of the human brain may have nothing whatever to do with formalised logic. Indeed, psychologically logic is quite illuminaturer, and who is to say, in our present imperfect understanding of nature, which is more logical or more natural, the operations of the nervous system itself, or the patrons that man has woven's with it. It must be recognised however, that knowledge including scientific knowledge, is not of certainties or well-established statements that steadily advance towards a state of finality. Moreover such scholars as Karl proper argue that can never claim to have attained truth or even a substitute for it. Whether Aristotle convinced at there is an inherent order in nature discoverable by man, and that there is and that order may be expressed as a permanently valid classification system is a matter for debate. But certainly such views were widely held for centuries through the orientation shifted as classicism gave way before evolving sciences.

1.3 Order basic and value of classification

Man himself is a part of nature; therefore one could argue with equal validity that any order which man has created to expedite his pursuit of knowledge is an order. Hence Cassirer's statement that an artificial order cannot be treated as knowledge is essentially meaningless. Of necessity a classification is an order list of terms, or names, for only in a very limited way can we manipulate objects and concepts or ideas have no physical existence at all and must be given names. The important fact is that the name is the verbal correlate of the class for which it stands; it is symbolic expressions' of the class and the members of which that class is composed. Classification can no more escape nomenclature than language can escape symbols. As ledger wood point out, the peculiar characteristic of all knowledge is that is always on or about an actual or supposed object other than itself. Referential transcendence is then, an indispensable feature of all knowledge and therefore cognitive situation. Classification therefore, if it is to be useful in the development of man's knowledge must reflect in a variety of ways, this referential element. The concepts with which it deals must refer to each other in ways that are in harmony with or contribute to this knowledge situation. Only thus can classification be useful to the scholar and the proper object of study of the epistemologist. The 1st necessity which is imposed upon by us the constitution of the mind itself. It is break up the infinite wealth of nation into groups and classes. Perhaps it will be found that classification is not only the beginning, but the culmination and the end, of human knowledge.

Taxonomy and Aristotelian logic had fastened upon class classification the nation of the fixed array of specimens that revolved the inherent order in nature, and once discovered remains valid for all time. Thus science supposedly the building blocks with which taxonomy erected a permanent structure.

1.4 Ranganathan's Unique Analysis on classification

The logic of taxonomy has been doubly unfortunate, not only because it has tended to ossify classification into a ride and supposedly permanent hierarchy, but also because it has obscured the larger and for more important contributions that classification can make to epistemology. Taxonomy classification, by providing him with an array of pigeon-holes into which he could conveniently slip his books or cards, has given him a false sense of security with respect to the retrieval of information. At the same time he has been led away from epistemologies, which are

 ISSN – 2349-3100

the true foundations of library science as the management of recorded knowledge. Of all librarians, only S.R. Ranganathan's has attempted to build a bibliographic classification upon epistemological principles. By demonstration the ways in which knowledge grows- by denudation, dissection, lamination, loose assemblage. He has clearly shown the relation between bibliographic classification, and the patrons, of mans cognitive growth. Thus, through the influence of this distinguished Indian scholar and those who have followed, techniques or been inspired by his techniques, librarianships is entering is a new era in classification, a transition in which the old rigidity and assumed performance of taxonomic grouping is giving way to a dynamic & flexible systems, that will give new dimensions to the organisation of recorded knowledge that stimulate the mental processes or channels of the library users. As mans understanding of the growth of knowledge increases, and he learns more about the operations of the nervous systems especially the brain, & the ways in which we thinks, he may cable to provide for serendipity. In library practice, facet analysis has opened the door for the introduction of electronics technology, popularly known as machine searching. The faceted approach has expanded to almost limitless boundaries the range of question that the reference seeker can ask, and for which answers can be achieved with speed by the librarian that to an earlier generation would have been beyond belief. Far from making the librarian automation, a salve t o the machine, promises him a new freedom, a mastery over his materials that he was never enjoyed before. But important as these practical's ends are, the great contribution of Ranganathan's methods lies in the theory of librarianship itself. As was suggested above, facet analysis derives from Ranganathan's investigations into the ways in which knowledge grows. And he his work for the first time. Librarianship as the science of management of knowledge merges with epistemology. This distinguished Indian philosophers found librarianship little more than a bundle of techniques, a rather simple technology, and he, and his followers, we have raised it to an intellectual discipline in its own right.

1.5 Ranganathan's theory and practice of library & information communication- an intellectual Discipline.

The implications of these changing concepts in the organisation of knowledge are not less important for the education of the librarian. Thus librarianship can be an intellectual discipline in its own right. Librarianship stands in such a perilous position at these very moments when technology is coming to give assistance to information communication. One of the primitive assumptions of science is that we live in a universe of order, an order that is determined by and

 ISSN – 2349-3100

controlled through the operations of certain fundamentals principle that admit of reasonably exact definition and yield ultimately to elucidation. Thus man reaches conclusion that there is a body of universal laws that can be grasped by the human intellect & utilised effectively in the solution of human problems. Ones cannot quarrel with these views, for it emphasizes anew the need of education to deal with these basic metaphysical problems rather than with facts alone. Therefore, aim of education for librarianship in the training of the intellect in matters pertaining to human knowledge. Of all the discipline, it is broadest and richest- the most interdisciplinary. It reaches to the very centre of man's intellectual achievements, and seeks to understand the relations of the parts to the whole of human knowledge.

References

1. Shera, J.H., Changing concepts of classification, Philosophical Theory and educational implication (Ranganathan's theory and practice), Vol.1 Bombay: Asia Publication, 1965, P.39.
2. Proper, K.R. Logic of scientific discovery, Network: Basic Book, 1959, p.278.
3. Ranganathan's S.R.: the colon classification, and its approach to documents in Chicago University-Press, 1959, p.97.
4. Ranganathan's S. R. Prolegomena, p.124
5. Sayers, WEC, A Manual of library Classification for librarians and bibliographies.
6. Kumar. Theory of classification, Delhi: Vikas, 1997, pp.544.
7. Kumar, G., S.R. Ranganathan's: An intellectual Bibliographies, Delhi, pp.-314-315.
8. Bhattacharya, B., A study in language and meaning, cal: progressive, 1962, p.-16.
9. Vickery B.C., Classification & indexing in science, London: Batter works, 1975, pp.14.
10. Nyayaratna Mahesh, Navya Nyaya-Bhsya Pradipath, Calcutta Sanskrit College, 1973 text.
11. Narain, H, Evolution of Nyaya Vaisesika categoriology, VI, Varanasi Bharati Prakashan, 1976.
12. Ranganathan's, S. R., Colon Classification, 6th edition. Bangalore, Sharada Ranganathan's Endowments of Library Science, 1994, pp.1-7.

Librarian,
Central Sanskrit University,
Ministry of Education, Govt. of India.
Guruvayoor Campus,
P.O.Puranattukara, Thrissur -680551 (Kerala)

ज्यौतिषशास्त्रस्य संहिताग्रन्थेषु उत्पातलक्षणानि तच्छान्त्युपायाश्च

✍ डा. रमेश शर्मा

वेदेषु यादृशं सूक्ष्मं प्रत्यक्षविषयीभूतं ज्ञानं वर्तते, न तादृक् क्वचिदन्यत्रोपलभ्यते उक्तञ्च मनुना[1]-

बिर्भति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनं ।।

अर्थात् वेदशास्त्रं नित्यं सर्वभूतानि धारयति । अनेन वेदस्य सर्वज्ञानमयत्वमपि निर्दिष्टम् । तत्र परमगम्भीरस्य वेदार्थस्यावगमनार्थं वेदस्य शिक्षादीनि षडंगानि प्रोक्तानि- शिक्षा, कल्पः, निरूक्तम्, व्याकरणम्, छन्दः, ज्योतिषमिति । इत्यनेन षडंगेषु ज्योतिषशास्त्रस्य परिगणनं तथा वेदांगशास्त्रेषु प्राधान्यत्वमंगीक्रियते । अस्य ज्योतिषशास्त्रस्य प्राधान्येन त्रयः स्कन्धाः सन्ति । सिद्धान्तः होरा संहिता चेति । अनेन प्रकारेण सिद्धान्तस्कन्धे मुख्यरूपेण ग्रहगणितस्य, होरास्कन्धे फलितस्य, संहितास्कन्धे च विविध-भूगोलीयविषयाणां विवेचनं लभ्यते । वस्तुतः संहितास्कन्धे सिद्धान्त-जातकग्रन्थान् विहाय अन्येषां सर्वेषां विषयाणां शास्त्राणाञ्च समावेशः वर्तते । अतः संहिताग्रन्थाः ज्योतिषशास्त्रस्य ज्ञानकोशरूपेण ज्ञायन्ते । अस्मिन् शोधपत्रे प्रकृत्यन्तर्गतपञ्चममहाभूतेषु ये विकाराः उत्त्पन्नाः भवन्ति, तेषां विकाराणां ज्योतिषशास्त्रस्य संहितास्कन्धानुसारेण वर्णनं लभ्यते ।

उत्पातो नाम स्वभावतो वैपरीत्यम्, प्रकृतेरन्यथात्वमुत्पातः वा । प्रकृत्यन्तर्गतपञ्चममहाभूतेषु अथवा प्राणिषु विकारेणोत्पन्ना परिस्थितिः उत्पात इति कथ्यते । वयं प्रकृतेः सूक्ष्मप्रभावान् अनुभवामः, येन नराणां सुखदुःखेषु जायमानाः प्रकृतिस्थविकाराः स्वकीयनिमितलक्षणान्यवश्यमेव प्रकटयन्ति । निमितशास्त्रं सिद्धान्ते•स्मिन् विश्वसति, ब्रह्माण्डे यद् किमपि भवति तद् पूर्वं निश्चितमस्ति, अकस्माद् किमपि न भवति । यथोक्तम् [2]-

निमितं लक्षणं स्वप्नं शकुनिस्वरदर्शनम् । अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां परिदृश्यते ।।

उत्पातानां उत्पत्तिकारणविषये वशिष्ठसंहितायां कथितम्[3] ।

अधर्मत्वादसत्याच्च नास्तिक्यादतिलोभतः । अनाचारान्नृणां नित्यमुपसर्गः प्रजायते ।।

वस्तुतः प्रकृतिः मानवहितायानेकानि साधनान्युपस्थापयति । तैर्न केवलं मानव एव , अपितु पशुपक्षिणो•पि जीवनं धारयन्ति, स्वस्था विचरन्ति, आनन्दमनुभवन्ति च । मानवस्तु प्रकृतेः सर्वाधिक लाभं प्राप्नोति, परञ्च मनुष्याणां नास्तिक्येन, अधर्मेण, असत्येन, अतिलोभेन, अनाचारेण पापसंचयो भवति । पापसञ्चयादुपसर्गा उपद्रवाश्च भवन्ति । यथोक्तं वराहमिहिरेण[4]–

अपचारेण नराणामुपसर्गः पापसञ्चयाद्भवति । संसूचयन्ति दिव्यान्तरिक्षभौमास्त उत्पाताः ।।

तत्रैव कथितमस्ति यत् नराणामविनयेन पापकर्मणा च देवतागणाः अप्रसन्नाः भवन्ति । तेषामप्रसन्तावशात् उत्पाता आपदाश्च भवन्ति । ते चाशुभत्वं कुर्वन्ति । अतः तेषामुत्पातानां निवारणाय विनाशाय च राजा राष्ट्रे उत्पातप्रतीकारं शान्तिश्चावश्यं कारयेत्। यथोक्तम् [5]–

मनुजानामपचारादपरक्ता देवता सृजन्त्येतान् । तत्प्रतिघाताय नृपः शान्तिं राष्ट्रे प्रयुञ्जीत ।।

उत्पातानां भेदाः[6]–

तद्वशात्त्रिविधोत्पाता जायन्ते शोकदुखदाः । दिव्यान्तरिक्षक्षितिजविकारा घोररुपिणः ।।

ते चोत्पातास्त्रिविधाः जायन्ते । दिव्या आन्तरिक्षा भौमाश्च ।

1. दिव्योत्पाताः - दिव्याकाशे भवा दिव्याः । दिवि चोत्पद्यते यच्च तद्दिव्यमिति । सूर्यादिग्रहाणामश्विन्यादिनक्षत्राणां मध्ये केत्वादीनां च यद् वैकृतः विकारस्तद्दिव्योत्पातः । यथोक्तम् – ग्रहर्क्षजा केतवश्च उत्पाता दिव्यसंज्ञकाः।

आकाशे त्रयस्त्रिंशतसंख्यकाः राहुसुताः केतवः तामसकीलकादि नाम्ना प्रसिद्धाः सन्ति, यदा ते सूर्यमण्डलगताः भवन्ति, तदा ते पापफलदायकाः, भयप्रदाः जगद्विपत्तिकारकाश्च सन्ति । यथोक्तम्[7] -

राहोः सुतास्तामसकीलकाद्याः कबन्धकाकोष्ट्रश्रृगालरूपाः । यदा रवेमण्ड़लगास्तदानीं मातङ्गभूपाहयभीतिदाः स्युः ।।

छत्रध्वजे भाङ्कुशगोवृषाश्वदण्डास्त्रभद्रासनसिंह्रुपाः । दृष्टा रवेर्मण्ड़लगा यदा ते जगद्विपत्तीतिभयप्रदाः स्युः ।।

एतेषां तामसकीलकादीनां राहुसुतानामाकाशे उदयात् पूर्वं विविधरूपाः उत्पाताः भवन्ति । यथा जलं विकारयुक्तं कलुषितं च भवति, आकाशमण्ड़लं रजसावृतं वर्तते, मृतिकायुक्तप्रचण्डवायुः पर्वतवृक्षशिखरादिविनाशकर्ता भवति, वृक्षाः ऋतुविपरीतानि पुष्पफलान्युत्पादयन्ति, पशुपक्षिणः सूर्यस्य ग्रीष्मताकारणेन व्याकुलाः सन्ति, दिशां दाहाः, निर्घात, भूकम्पादयः उत्पाताः भवन्ति ।

2. आन्तरिक्षोत्पाताः --- अन्तरिक्षे भवा आन्तरिक्षाः । ग्रहनक्षत्रस्थानं विहाय आकाशे अन्यत्र ये गन्धर्वनगरादयः दृश्यन्ते ते आन्तरिक्षोत्पाताः भवन्ति । यदि आकाशे निर्घात-परिवेष-उल्का-गन्धर्वनगर-इन्द्रधनु-र्ध्वज-लोहित-ऐरावत-ऊष्ट्र-अश्व-कबन्ध-परिघादयः दृश्यन्ते । तदा आन्तरिक्षोत्पाताः भवन्ति । --

निर्घातपरिवेषोल्कापुरन्दरधनुर्ध्वजाः[8] ।।

लोहितैरावतोष्ट्राश्वकबन्धपरिघादयः । एवमाद्या महोत्पातास्त्वन्तरिक्षाह्वयास्त्वमी ।।

दिव्यं ग्रहर्क्षवैकृतमुल्कानिर्घातपवनपरिवेषाः । गन्धर्वपुरपुरन्दरचापादि यदान्तरिक्षं तत् ।

1 उल्कास्वरूपम् --- लोकपालाः महात्माश्च जनानां परीक्षणं कृत्वा शुभाशुभफलज्ञाने यानि ज्वलितान्यस्त्राणि उत्सृजन्ति ता उल्काः कथ्यन्ते । वा स्वर्गात् केषांश्चित्पुण्यकृतां विच्युतिः उल्काः, सा ज्वलन्ता तारका इव पतिताः दृश्यन्ते । यथोक्तं गर्गाचार्येण[9] –

स्वास्त्राणि संसृजन्त्येते शुभाशुभनिवेदिनः । लोकपाला महात्मानो लोकानां ज्वलितानि तु ।।

दिविभुक्तशुभफलानां पततां रुपाणि यानि तान्युल्काः[10] धिष्ण्योल्काशनिविद्युत्तारा इति पञ्चधा भिन्नाः ।।

ताश्चोल्काः पञ्चविधाः सन्ति । यथा- धिष्ण्या, उल्का, अशनिः, विद्युत्, तारा इति ।

2 दिग्दाहलक्षणम् --- दिशां दाहः दिग्दाहः । प्रायः सूर्यास्तकाले दिशः अग्निज्वाला इव प्रतिभासते । सा ज्वाला यदा विभिन्नरूपेषु दृश्यते, तदा स दिग्दाह उच्यते । यदा-कदा संध्याद्वये दिग्दाहस्य दर्शनं भवति । संहिताकारैः दिग्दाहस्य विविधवर्णैः विविधानि फलानि वर्णितानि । बृहस्पतिः मतानुसारेण सर्वासु दिशासु जायमाना दिग्दाहः अक्षेम-भयनिमिताय च भवति । दिशः सर्वाः प्रदह्यन्ते अक्षेमाय भयाय च ।।[12]

3 निर्घातलक्षणम् --- यदान्तरिक्षात् बलवान् पवनः पवनाभिहतो भूमौ समापतति । तदा स स्वगुरूवेगेन प्रदीप्तो भवति ,तस्मिन् काले तेषामधोपतनेन य शब्दो भवति । स निर्घात उच्यते । निर्घातः अनिष्टदः हानिदः दोषकृत् च भवति[13] । यदि स निर्घातः सूर्याभिमुखी स्थितपक्षीणां रूतस्वरैः सम्मिलितश्चेत्, तदा पापफलं ददाति ।

वायुनाभिहतो वायुगगनात्पतितः क्षितौ । तदादीप्तः खग्रसतः स निर्घातोति दोषकृत् ।।

यत्र निर्घातः श्रूयते तत्र दिक्कालतिथिनक्षत्रानुबन्धेन चतुर्विधं फलं भवति । अथ निर्घातेषु दिक्कालतिथिनक्षत्रानुबन्धेन चतुर्विधं फलमुपदिशन्ति यावच्छब्दे देशे ।। वटकणिकायां मतेन दिशं तापयति पतति यस्याम् ।[14] गर्गमतेन यस्यां दिशि निर्घातः स्यात् । तद्दिगस्य देशाञ्च नाशयति ।।

4 परिवेषलक्षणम् – परिवेषस्तु (परिधिः सूर्यचन्द्रमण्ड़लयोः) अर्थात् यदा सूर्यचन्द्रयोः किरणाः पवनेन संमूर्छिताः भवन्ति, तदा सूर्यचन्द्रयोः परितः मेघयुक्ताकाशे नानावर्णाकृतयः(रक्तनीलपाण्डुरकपोताभ्रशबलहरितशुक्लाः) परिधिरूपेण दृश्यन्ते, ते परिवेषाः(Halo) कथ्यन्ते । परिवेषः स्ववर्णाकृतिः वशात् प्रकृतौ जायमानाः शुभाशुभप्रभावं पूर्वमेव संसूचयन्ति[15]।

संमूर्छिता रवीन्द्वोः किरणाः पवनेन मण्डलीभूताः । नानावर्णाकृतयस्तन्वभ्रे व्योम्नि परिवेषाः ।।

यदि विविधवर्णैः स्निग्धः परिवेषः दृश्यते तदा सद्यः वृष्टिः भवति । रक्तवर्ण परिवेषेन क्षुधाभयम् , पीतवर्णेन शस्त्रभयम्, श्वेतवर्णेन व्याधिः, ताम्रवर्णेन वृष्टिः, कृष्णवर्णेन अग्निभयम्, हरितवर्णेन मृत्युः, अरूणवर्णेन शस्त्रानिलभयञ्च भवति[16]।

5 इन्द्रधनुलक्षणम् --- व्योम्नि मेघ-वायुभिहता नानावर्णाः सूर्यरश्मयः चापरूपेषु यद् प्रदृश्यते, तत् इन्द्रचापं इन्द्रधनुः वेत्युच्यते । अस्य इन्द्रचापस्य दर्शनवशात्, वर्णवशात्, स्थानवशात्, कालवशात्,दिग्वशाच्च विविधानि फलानि सन्ति । विविधवर्णेषु विविधदिशासु वा समुद्भूतेन इन्द्रचापेन मुख्यरूपेण वृष्टि -अग्नि-व्याधि-सस्यज्ञानञ्च भवति । यथोक्तम् [17]--

सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः कराः साभ्रे । वियति धनुः संस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः।

यदि जले इन्द्रधनुः स्थितः दृश्यते तदा अनावृष्टिः, भूमौ स्थितः दृश्यते तदा धान्यनाशः, वृक्षे व्याधिभयम्, वल्मीके शस्त्रभयम् भवति । यदि रात्रिकाले इन्द्रधनुः दृश्यते तदा सचिव मृत्युः संभाव्यते [18]।

जलमध्ये•नावृष्टिर्भुवि सस्यवधस्तरौ स्थिते व्याधिः । वल्मीके शस्त्रभयं निशि सचिववधाय धनुरैन्द्रम् ।।

6 गन्धर्वनगरलक्षणम् – जलदोषैः सूर्यकिरणानां विकारवशात् आकाशे यदा-कदा भवनसदृशाः आकृतयः दृश्यन्ते, स गन्धर्वनगर उच्यते । अस्य गन्धर्वनगरस्य आकृतिवशात्, दर्शनवशात्, वर्णवशात्, स्थानवशात्, कालवशात्,दिग्वशाच्च विविधानि फलानि सन्ति । यदि सर्वासु दिशासु गन्धर्वनगरः दृश्यते तदा सर्वे वर्णाः परस्परं कलहं कुर्वन्ति । यदि मेघविद्युद्भिः सहितः स्निग्धः गन्धर्वनगरः दृश्यते, तदा अतिवृष्टिः भवति । यथा च[19]—

सर्वास्वपि यदा दिक्षु गन्धर्वनगरं भवेत् । सर्वे वर्णाः विरूध्यन्ते सर्वदिक्षु परस्परं ।।

एते उल्का–दिग्दाह-निर्घात–परिवेष–इन्द्रधनु–गन्धिर्वनगरादयः आन्तरिक्षोत्पातानां मुख्यकारकाः भवन्ति । अन्यत् ये ध्वज-लोहित-ऐरावत-ऊष्ट्र-अश्व-कबन्ध-परिघादयः दृश्यन्ते । ते निमितकारकाः सन्ति ।

भौमोत्पाताः --- भूमिभवा भौमाः । पृथिव्या सम्बद्धाः भूकम्पादय उत्पाताः भौमोत्पाताः भवन्ति । अर्थात् भूमौ यच्च स्थावरं जङ्गमं वस्तुषु वैकृतमुत्पद्यते, तत् भौम उत्पात उच्यते[20] । यथोक्तं ---

उत्पद्यते क्षितौ यच्च स्थावरं वाथ जङ्गमम् । तदेकदैशिकं भौममुत्पातं परिकीर्तितम् ।।

यदि आन्तरिक्षोत्पातानां निमित्तकारकाः भूमौ संस्थिताः स्युः, तदा ते भौमोत्पातान् कुर्वन्ति[21] ।

नक्षत्रसंस्थिता दिव्याः भौमा ये भूमिसंस्थिताः । एकोप्यमित्ररूपः स्याञ्जन्तूनामशुभाय वै ।।

भौमोत्पातेन चक्रवात-भू-स्खलन-अतिवृष्टि-हिमपात-शीताधिक्य-उष्णता- अग्नि- विद्युत- अकालादयः भयङ्कराः आपदा उत्पद्यन्ते । दिग्-ग्राम-पर्वताः यदि रजसावृत्ता दृश्यन्,तदा रजोकणवशात् उत्पातः भवति । अद्भुतसागरे कथितमस्ति यत् यदा रजोकणाः रक्तवर्णस्य कान्तियुक्ताः दृश्यन्ते तदा अतिवृष्टिः भवति । यदा घनान्धकारसदृश धूलिना धूमेन वा सर्वाः दिशाः सूर्यचन्द्रतारागणसहिताःआच्छन्ना भवेत् तदा महद्भयं जायते [22] ।

रजसा वा•पि धूमैर्वा दिशो यत्र समाकुलाः । आदित्यचन्द्रताराश्च विवर्णा भयवृद्धये ।।

यदि चतुर्रात्रिपर्यन्तं रजोकणाः धूलि वा निपतति तदा रजोपातेन ईतिभयम्, दुर्भिक्षभयम् वा भवति [23]।।

ईतिदुर्भिक्षमतुलं यदि रात्रचतुष्टयम् । निरन्तरं पञ्चरात्रं महाराजविनाशनम् ।

भौमोत्पाताः स्वल्पफलदायकाः, आन्तरिक्षोत्पाताः मध्यमफलकारकाः तथा च दिव्योत्पाताः सम्पूर्णफलदा वर्तन्ते । एवञ्च मासत्रयान्तरे, षण्मासान्तरे वर्षमध्ये वा स्वकीयं फलं प्रयच्छन्ति[24]।

भौमास्तु तुच्छफलदास्त्वन्तरिक्षास्तु मध्यमाः । सम्पूर्णफलदा दिव्या वर्षादर्द्धात्तदर्द्धतः ।।

उत्पातानां शान्त्युपायाः --- अतः मनीषिभिः पूर्वोक्तानां त्रिविधोत्पातानामवश्यमेव शान्तिः कर्तव्या । यथोहि उत्पाताः मृत्युप्रदाः, भयदायकाः, व्याधिकारकाः, कीर्तिनाशकाः, दुःखदायकाश्च भवन्ति । शास्त्रोक्तविधिमनुसृत्य

चमकनमकसहितं रूद्रपाठं कुर्यात्, शिवविष्णोः कथालापं श्रुणुयात् (यत् इन्द्र भयामहे), (स्वस्तिदाघोरमंत्रकैः) एतैः मन्त्रैः समिधाज्यं चरूव्रीहितिलैः कोटिहोमं तदर्धं लक्षहोमं वा जुहुयात् [25]। यथोक्तम्

चमकं नमकं सूक्तपुरूषोक्ताङ्गजापकैः । शिवविष्णोः कथालापैर्दिनशेषं नयेततः ।

अन्यच्च ---

जुहुयादाज्यभागान्तं पृथगष्टोतरं शतम् । यत् इन्द्रभयामहे स्वस्तिदाघोरमंत्रकैः ।।

समिदाज्यं चरूव्रीहितिलैर्व्याहृतिभिस्तथा । कोटिहोमं तदर्धं च लक्षहोममथा•पि वा ।।

सन्दर्भग्रन्थाः

1 मनुस्मृतिः अ. 12 श्लो. 99

2 श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण अरण्यकाण्डे दिव्पञ्चाशः सर्गः श्लो 2

3 वशिष्ठसंहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 2

4 बृहत्संहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 2-

5 बृहत्संहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 3

6 वशिष्ठसंहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 3

7 वशिष्ठसंहितायां अथार्कचाराध्यायः श्लो 14,15

8 वशिष्ठसंहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 4, 5

9 बृहत्संहितायां अथोल्कालक्षणाध्यायः

10 नारदसंहितायां त्रिचत्वारिंशदध्यायः श्लो 1

11 अद्भुतसागरः दिग्दाहद्भुतावतर्तः पृ.सं. 521

13 नारदसंहितायां र्निघातलक्षणाध्यायः श्लो 1।

14 अद्भुतसागरः पृ.सं. 504

15 बृहत्संहितायां परिवेषलक्षणाध्यायः श्लो 1

16 अद्भुतसागरः पृ.सं. 471

17 बृहत्संहितायां इन्द्रायुधलक्षणाध्यायः श्लो 1

18 बृहत्संहितायां इन्द्रायुधलक्षणाध्यायः श्लो 5

19 भद्रबाहुसंहिता एकादशोध्यायः 18

20 वशिष्ठसंहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 6

21 नारदसंहितायां दिवतीयोध्यायः (केतुचारः) श्लो 3

22 अद्भुतसागरः पृ.सं. 527

23 नारदसंहितायां दिवतीयोध्यायः (केतुचारः) श्लो 3

24 वशिष्ठसंहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 7

25 वशिष्ठसंहितायां उत्पाताध्यायः श्लो 22

(सहायकाचार्य ज्यो.) रा.ने.सं.महावि.फागली शिमला जिला शिमला हि.प्र.

दर्शनशास्त्रे योगाङ्गानि – वेदान्तसन्दर्भे

✍भीमराजः*

युजिर् (समाधौ) धातोः घञ् प्रत्ययेन 'योगः' इति पदं निष्पद्यते । वस्तुतः मुख्यरूपेण योगपदस्यार्थोऽस्ति समाधिः । ज्ञानस्य या पराकाष्ठा अस्ति स समाधिरुच्यते । गीतायाः प्रत्येकाध्याया अपि योगपादान्ता विद्यन्ते । स च समाधिर्द्विविधः - 1, सम्प्रज्ञातसमाधिः 2. असम्प्रज्ञातसमाधिश्च । असम्प्रज्ञातसमाधिरेव मोक्षः कैवल्यम् वा । परञ्च असम्प्रज्ञातसमाधेः सिद्धिः योगाङ्गबलेन भवति ।

यतो हि तत्र कथितं यद् योगाङ्गनुष्ठानेन अशुद्धेः क्षयो भवति तेनैव क्रमेण उदितद्विवेकज्ञानाद्मोक्षप्राप्तिर्भवति ।[1] योगाङ्गस्य विवेचनं योगवेदान्तदर्शनयोः सुष्ठुरूपेण वर्त्तते । सदानन्दयोगीन्द्रकृते वेदान्तसारे योगस्याष्ट्वाङ्गानि सन्ति यद् यमाः, नियमाः, आसनम्, प्राणायामः, धारणा, ध्यानम्, समाधिश्चादीनि योगस्याष्ट्वाङ्गानि सन्ति ।[2] योगदर्शनेऽपि एतादृशानि योगस्याष्ट्वाङ्गानि सन्ति, नास्ति नाम्ना कोऽपि भेदः । 'यमनियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः ।'

1. यमविवेचनम् - आदिगुरुशङ्कराचार्यमतानुसारेण यमस्वरूपमस्ति यद् सर्वमिदं जगत् ब्रह्मैवास्ति एतज्ज्ञत्वा इन्द्रियाणां नियन्त्रणमेव यमः ।

'सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः । यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥[3]

योगदर्शनेऽपि कथितम् - "**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।"[4]** अर्थात् योगाङ्गेषु अहिंसा, सत्यम्, अस्तेयम्, ब्रह्मचर्यम्, अपरिग्रहश्च यमा विद्यन्त इति द्वयोर्दर्शनयोरङ्गीकृतमस्ति । जैनदर्शने यमस्यापरं नाम व्रतमस्ति । तत्र हिंसा-अनृत-स्तेय-अब्रह्म-परिग्रहेभ्यो अपरामृष्ट एव व्रतमुच्यते । **हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिगेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।[5]**

अहिंसा - तत्र किं नाम अहिंसा ? सन्दर्भेऽस्मिन् विद्वन्मनोरञ्जनीटीकानुसारेण - **'वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा ।'** अर्थात् कायिक-वाचिक-मानसिकव्यापारैः परेषां प्राणिमात्रेभ्यः काचिदपि पीडा भवति चेदियं क्रमशः कायिकहिंसा, वाचिकहिंसा मानसिकहिंसा च कथ्यते । जैनदर्शनेऽपि हिंसाया एतादृशं वर्णनं प्रप्यते । **'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ।'[6]** यथा ईशावास्योपनिषद्यपि कथितम् -

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति ।
सर्वभूतेषु च आत्मानं ततः न विजुप्सते ॥'[7]
'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् विजानतः ।
तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वम् अनुपश्यतः ।।'[8]

अर्थात् अहिंसाबलेन सर्वप्राणिषु सर्वत्र एकस्यैवात्मनो दर्शनं भवति येन विश्वोऽयं सर्वपापेभ्यो विमुक्तो भूत्वा शान्तिमधिगच्छति ।

---

[1] योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । योगसूत्रम्, 2.28
[2] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गनि । योगसूत्रम्, 2.29
[3] अपरोक्षानुभुतिः, 104
[4] योगसूत्रम्, 2.30
[5] तत्त्वार्थसूत्र, 7.1
[6] तत्त्वार्थसूत्रम्, 7.4
[7] ईशावास्योपनिषत्, 6
[8] ईशावास्योपनिषत्, 7

सत्यम् - विद्वन्मनोरञ्जनीटीकानुसारेण सत्यम् अस्ति - 'सत्यं यथार्थभाषणम्' । परञ्च व्यवहारे सत्यं कथं कदा च वनदीयमिदमपि महत्त्वपूर्णमस्ति । कदापि कटुसत्यन्न वदनीयं येन परेषामहिंसा भवति । यथा कोऽपि अन्धजनं दृष्ट्वा भो ! अयमन्धः अयमन्ध इति न वदनीयः । तस्य कृते 'प्रज्ञाचक्षुः अयं जनः' इति वाक्यं प्रोक्तव्यम् । अभिप्रायोऽस्ति यत् परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वा वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत् । कटुसत्यवदनेन कस्यापि अहिंसा न भवेदेतस्मादस्ति अहिंसाया यमेषु व्रतेषु वा प्रथमस्थानम् । आचार्यमनुवचानानुसारेणापि अयमेव भावो वर्णितः -

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रुयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥'[9]

जैनदर्शने असत्यस्य लक्षणविषये कथितं यदसद्वदनमनृतम् ।[10] तत्र किन्नाम असद् एतस्मिन् विषये लिखितं विद्यमानपदार्थस्य निषेधः, अविद्यमानपदार्थस्य स्वीकरणम् एवञ्च विद्यमानपदार्थस्य अन्यस्वरूपे कथनम् असद् भवति । सत्यानुष्ठानेन सत्यवादी जनः क्रियाफलस्य आश्रयो भवति ।[11]

अस्तेयम् - विद्वन्मनोरञ्जनीटीकानुसारेण शास्त्रवचनानुसारेणैव धनस्य परतः स्वीकरणमेव अस्तेयमुच्यते इति । अस्तेयविषये योगसूत्रे कथितम् - स्तेयमशास्त्रपूर्वकद्रव्याणां परतः अस्वीकरणम् । तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।'[12] जैनदर्शने स्तेयस्य लक्षणविषये कथितं अदत्तपदार्थस्य स्वीकरणम् - **'अदत्तादानं स्तेयम् ।'**[13] अस्तेयस्य प्रतिष्ठायां सर्वरत्नानां प्राप्तिर्भवति ।[14]

ब्रह्मचर्यम् – रामतीर्थानुसारेण 'ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्' । दक्षसंहितायां अष्टविधस्य मैथुनस्य वर्णनं प्राप्यते -

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधालक्षणं पृथक् ।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥
विपरितं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ।

अन्ये ग्रन्थेऽपि कथितम् -

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

जैनदर्शने अब्रह्मचर्यस्य लक्षणविषये कथितं मैथुनमेवाब्रह्म ।[15] सन्दर्भेऽस्मिन् योगसूत्रे वर्णितम् - गुपेन्द्रियोपस्थस्य संयमः ।[16] अर्थात् मैथुनादिद्वारा गुप्तेन्द्रियाणां क्षयस्य अभाव एव ब्रह्मचर्यम् । व्रतेनानेनानुपालनेन वीर्यस्य प्राप्तिर्भवति ।[17]

अपरिग्रहः - आदिगुरुशङ्कराचार्यमानुसारेण अर्थसुखानि अनित्यानि सन्ति -

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता नीतिः । भज

---

[9] मनुस्मृतिः,

[10] असदभिधानमनृतम् । तत्त्वार्थसूत्रम्, 7.14

[11] सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । योगसूत्रम्, 2.36

[12] योगसूत्रम्, 2.30 (व्याख्या- व्यासभाष्यम्)

[13] तत्त्वार्थसूत्रम्, 7.15

[14] अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम् । योगसूत्रम्, 2.37

[15] मैथुनमब्रह्म । तत्त्वार्थसूत्रम्, 7.16

[16] योगसूत्रम्, 2.30 (व्याख्या- व्यासभाष्यम्)

[17] ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । योगसूत्रम्, 2.38

गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥

अन्यत्रापि कथितम् अर्थोपार्जनविषये -

अर्थानामर्जने दुःखं तथा च परिपालने ।नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥

कथितं योगसूत्रे विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्घहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणम् अपरिग्रहः ।[18] अर्थात् आवश्यकताद् अधिकसंसाधनानाम् अनिच्छा यैः संसाधनैर्जीवननिर्वाहः सरलरीत्या भवेत तावदेव संसाधानाम् इच्छा एव अपरिग्रह उच्यते। अपरिग्रहेण भूतादित्रयाणां कालानामेवं तेषां भेदानां सम्यग्ज्ञानं भवति ।[19]

2. नियमनिरूपणम् - यथा नियमविषये वेदान्तदर्शने तथैव योगदर्शनेऽपि । **'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।'**[20] अर्थात् योगाङ्गेषु नियमाः शौचम्, सन्तोषः, तपः, स्वाध्यायः, ईश्वरप्रणिधानञ्च विद्यन्त इति द्वयोर्दर्शनयोरङ्गीकृतमस्ति ।

शौचम् - तत्र किं नाम शौचम् ? सन्दर्भेऽस्मिन् योगसूत्रे वर्णितं शौचं द्विविधम् - आभ्यन्तरम्, बाह्यञ्च । तत्र चित्तमलानामाक्षालानम् आभ्यन्तरम् । मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् । अन्यत्रापि कथितम् -

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

शौचफलम् - शौचस्य फलविषयेऽपि कथितं यत् शौचानुष्ठानेन स्वाङ्गान् प्रति घृणा परप्राणिन् प्रति च संसर्गाभावो भवति ।[21] आभ्यन्तरशौचेन बुद्धेः शुद्धिः, मनसः प्रसन्नता, इन्द्रियाणामेकाग्रता एवञ्च आत्मसाक्षात्कारे योग्यता आयाति ।[22]

सन्तोषः - आवश्यकताद् अधिकसंसाधनानाम् अनिच्छा यैः संसाधनैर्जीवननिर्वाहः सरलरीत्या भवेत् तावदेव पदार्थैर्मनसः शान्तिरेव सन्तोष उच्यते ।[23] यतो हि अत्याल्पसंसाधनानां प्रयोगेणापि हिंसा तु भवत्येव । यथा श्वास-प्रश्वासक्रियया वायुजीवस्य हिंसा भवति । जलं पातुमनन्तरं जलजीवस्यहिंसा भवति इत्यादि । आदिगुरुशङ्कराचार्यमानुसारेण अर्थसुखानि अनित्यानि सन्ति -

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् । पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता नीतिः ।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥

अन्यत्रापि कथितम् अर्थोपार्जनविषये -

अर्थानामर्जने दुःखं तथा च परिपालने । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥

अतः यो जनः सन्तोषभावनया निवसति स परमशान्तिमधिगच्छति । सन्तोषानुष्ठानेन अनुत्तमसुखस्य प्राप्तिर्भवति ।[24] अनुत्तमपदस्यार्थो विद्यते - न विद्यमानम् उत्तमं यस्मात्तद् अनुत्तमम् (बहुव्रीहिसमासः), अनुत्तमञ्च तत् सुखञ्चेति अनुत्तमसुखम् (कर्मधारयसमासः) तस्य लाभः (षष्ठीतत्पुरुषः) अनुत्तमसुखलाभः ।

तपः - शीतोष्णादिद्विन्द्वसहनं तपः ।[25]

तपफलम् - तपबलेन अशुद्धिनाशानन्तरे अणिमादीनां कायस्य सिद्धिनां प्राप्तिर्भवति एवञ्च दूरश्रवणादीन्द्रियाणां

---

[18] योगसूत्रम्, 2.30 (व्याख्या- व्यासभाष्यम्)
[19] अपरिग्रहस्थैर्यं जन्मकथन्तासम्बोधः । योगसूत्रम्, 2.31
[20] सदानन्दयोगीन्द्रः, वेदान्तसारः, समाधिसाधननिरूपणम्, (व्याख्याकारः डॉ. लम्बोदरमिश्रः) पृष्ठसङ्ख्या- 243
[21] शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । योगसूत्रम्, 2.40
[22] सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । योगसूत्रम्, 2.41
[23] सन्निहितसाधनादाधिकस्यानुपादित्सा सन्तोषः । योगसूत्रम्, 2.15 (व्याख्या- योगभाष्यम्)
[24] सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः । योगसूत्रम्, 2.41
[25] योगसूत्रम्, 2.30 (व्याख्या- व्यासभाष्यम्)

सिद्धिर्भवति ।[26]

स्वाध्यायः - मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा स्वाध्यायः ।[27]

स्वाध्यायफलम् - स्वाध्यायबलेन इष्टदेवैः सह सन्निकर्षो भवति ।[28] **ईश्वरप्रणिधानम् -** तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् । समाधेः सिद्धिः अनेनैवानुष्ठानेन भवति ।[29]

3. आसनम्- वेदान्तदर्शने अस्मिन् विषये कथितम् - करणचरणादि-संस्थानविशेषलक्षणानि पद्म-स्वस्तिकादीनि आसनानि । हस्तपादाद्यङ्गानां स्थितिविशेष एव आसनम् ।[30] अनेन शीतोष्णादिद्वन्द्वस्य अभिघाताभावो भवति ।[31] **आसन**विषये योगसूत्रे कथितमस्ति - स्थिरसुखमा**सनम्** ।[32] अर्थात् यस्यामवस्थायां शरीरं सुखं स्थिरञ्चानुभवति तदेवासनम् ।

4. प्राणायामः - प्राणायामविषये योगसूत्रे कथितमस्ति - तस्मिन् सति श्वाशप्रश्वासंयोगतिर्विच्छेदः प्राणायामः ।[33] स च प्राणायामः चतुर्विधः - पूरकः, रेचकः, कुम्भकः केवलीकुम्भकश्च । विषयेऽस्मिन्नोक्तम् - बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।[34]
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।[35]

प्राणायामफलम् - प्राणायामस्य फलमस्ति यत् अनेनानुष्ठानेन ज्ञान उपरि अज्ञानस्य आवरणं क्षीणं भवति ।[36] एवञ्च धारणासु चित्तस्य क्षमता भवति ।[37] वेदान्तदर्शने अस्मिन् विषये कथितम् - रेचक-पूरक-कुम्भक-लक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः । प्राणवायौ वशीकरणार्थं रेचक-पूरक-कुम्भकाद्यः प्राणायाम उच्यते ।

5. प्रत्याहारः- वेदान्तदर्शने अस्मिन् विषये कथितम् - इन्द्रियाणां स्वस्वविषेभ्यः प्रत्याहारणं प्रत्याहारः ।[38] अर्थात् इन्द्रियाणां स्वस्वविषेभ्यो निग्रह एव प्रत्याहारः । प्रत्याहारविषये योगसूत्रे कथितमस्ति - स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।[39] अर्थात् इन्द्रियाणां स्वविषयैः सह सन्निकर्षाभावात् तेषामिन्द्रियाणां चित्तस्य अनुकरणमेव प्रत्याहार उच्यते । अनेनानुष्ठानेन फलस्वरूपेण इन्द्रयाणि उपरि प्रबलवशीकरणं भवति ।[40]

6. धारणा - नृहसिंहसरस्वती अपि कथयति स्वस्वबुद्धिनानुसारेण ब्रह्मणि चित्तस्य लय एव धारणा ।[41] शङ्कराचार्यमतानुसारेण -

---

[26] कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः । योगसूत्रम्, 2.43
[27] योगसूत्रम्, 2.30 (व्याख्या- व्यासभाष्यम्)
[28] स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः । योगसूत्रम्, 2.44
[29] समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । योगसूत्रम्, 2.45
[30] सदानन्दयोगीन्द्रः, वेदान्तसारः, समाधिसाधननिरूपणम्, (व्याख्याकारः डॉ. लम्बोदरमिश्रः) पृष्ठसङ्ख्या- 243,
[31] ततः द्वन्द्वानभिघातः । योगसूत्रम्, 2.48
[32] योगसूत्रम्, 2.46
[33] योगसूत्रम्, 2.49
[34] योगसूत्रम्, 2.50
[35] योगसूत्रम्, 2.51
[36] ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । योगसूत्रम्, 2.52
[37] धारणासु च योग्यता मनसः । योगसूत्रम्, 2.53
[38] सदानन्दयोगीन्द्रः, वेदान्तसारः, समाधिसाधननिरूपणम्, (व्याख्याकारः डॉ. लम्बोदरमिश्रः) पृष्ठसङ्ख्या- 243,
[39] योगसूत्रम्, 2.54
[40] ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । योगसूत्रम्, 2.55
[41] सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनि चित्तनिक्षेपणं धारणा ।

'यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् । मनसो धारणम् चैव धारणा सा परा मता ॥'[42]

धारणाविषये योगसूत्रे कथितमस्ति - देशबन्धचित्तस्य धारणा ।[43] वेदान्तदर्शने अस्मिन् विषये कथितम् - अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा ।

7. ध्यानम् - वेदान्तदर्शने अस्मिन् विषये कथितम् - तत्र अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम् । शङ्कराचार्यमतानुसारेण –

'ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः । ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥ [44]

अर्थात् अहमेव ब्रह्मास्मि एतादृसी सद्ब्रह्मविषयिकी या चित्तवृत्तिः अस्ति सा परमानन्ददायिनी निरालम्बना स्थितिरेव ध्यानम् ।

ध्यानविषये योगसूत्रे कथितमस्ति - तत्र प्रत्ययैकतानता **ध्यानम्** ।[45]

8. समाधिः - समाधिविषये योगसूत्रे कथितमस्ति - तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।[46] वेदान्तदर्शने अस्मिन् विषये कथितम् - समाधिः तु उक्त सविकल्पक एव । योगसूत्रे समाधिर्द्विविधः - सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातश्च । तत्र विशुद्धसत्त्वप्रधानवृत्तिमत् सम्प्रज्ञातः । यस्तु एकाग्रे सद्भूतमर्थं प्रद्योदयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनं श्लथयति, निरोधाभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातसमाधिः । सकलवृत्तिनिरोधः, संस्कारमात्रशेषोऽन्यर्थ एव असम्प्रज्ञातः । असम्प्रज्ञातसमाधिना कैवल्यं प्राप्यते ।

निष्कर्षरूपेण तथ्यमिदं स्पष्टमस्ति यद् नास्ति विशेषभेदो वेदान्तयोगदर्शनयोर्योगाङ्गविषयमधिकृत्य । जैनदर्शने प्रतिपादितव्रतैः सह वेदान्तयोगदर्शनयोः प्रतिपादितयोगाङ्गानां पर्याप्तसाम्यमस्ति । अद्य वर्त्तमाने योगाङस्याऽतीवाऽऽवश्यकता विद्यते । नैकैर्योगासनैर्नैकानां रोगाणां नाशो भवति । अनेन योगाभ्यासेन राष्ट्रे समाजे च स्वास्थ्यस्तरं वर्धयति । अतः वेदान्तयोगदर्शनयोः प्रतिपादितयोगाङ्गानामद्यापि प्रासङ्गिकता विद्यते इत्यत्र नास्ति कोऽपि संशयः ।

सन्दर्भग्रन्थाः -

ब्रह्मसूत्रम्
वेदान्तसारः
विद्वद्मनोरञ्जनी
अपरोक्षानुभुतिः
योगसूत्रम्
तत्त्वार्थसूत्रम्

*** शोधच्छात्रः, सर्वदर्शनविभागः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम् (राजस्थानम्)**

[42] अपरोक्षानुभूतिः, 122
[43] योगसूत्रम्, 3.1
[44] अपरोक्षानुभूतिः, 123
[45] योगसूत्रम्, 3.2
[46] योगसूत्रम्, 3.3